संघ के ग्यारह नियम

मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है। जो प्राणी अपनी निर्बलता एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत्त करने में समर्थ है, वही वास्तव में 'मानव' कहा जा सकता है।

१—आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२—की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

३—विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४—जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५—दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

६—पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारिवारिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

७—निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८—शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९—शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०—सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।

११—व्यर्थ चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

दो शब्द

अपने सब पुरुषार्थ कर चुकने के बाद भी जब जीवन का सूनापन नहीं मिटा तब मुझे ऐसा सूझने लगा कि भगवान् के घर का दरवाजा देखा हुआ कोई सन्त मिल जाता तो मुझे भी राह दिखा देता । मैंने ऐसी आवश्यकता महसूस की और मुझे ऐसे सन्त मिल गये । उन्होंने एक कुशल अनुभवी चिकित्सक की भाँति भव-रोगों से ग्रसित मेरे व्यक्तित्व को अपनी निगरानी में ले लिया । भवरोग-नाशिनी दिव्य-दृष्टि से मेरे तन, मन और अहं का परीक्षण हुआ । दशा का निदान एवं निवारणार्थ साधना का चुनाव तत्क्षण हो गया । प्रथम साक्षात्कार (Interview) में ही बिना मेरे पूछे वह सब कह दिया गया, जिसकी मुझे जरूरत थी, अर्थात् जो मेरे लिए जीवन की राह थी । मुझे बहुत दिनों के बाद पता चला कि १ जनवरी १९५४ को प्रातःकाल जो कुछ श्रीमहाराजजी ने मुझे बताया वह मेरी दीक्षा थी ।

सत्संग और साधना का क्रम आरम्भ हुआ । भव-रोगों से मुक्त कर साधक के शुद्ध अहं को कैसे-कैसे ज्ञान के प्रकाश-पुंज और प्रेम के अनन्त रस में परिवर्तित किया जाता है इस दिशा में सत्यनिष्ठ, अनुभवी, मार्गदर्शक सन्त ने मेरे अवस्थान्तरण (Transference of Stages) के क्रम में अपने अनूठे, अद्भुत प्रयोगों को आरम्भ किया। मेरा निवास श्रीमहाराजजी

से दूर नगर में था। दशाओं का परिचय देना, साधन-पथ में उठने वाले प्रश्नों का प्रस्तुतिकरण एवं उनका समाधान पत्र-व्यवहार से ही होता था।

'पाथेय' में संकलित पत्र अहं के विकार की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक भी हैं और उनके निवारणार्थ अमोघ साधनों की शृङ्खला भी। मेरे लिए इन पत्रों में तुलसी-विरवों सी पावनता है, जिनमें अहं की मलिनता का नाश करने की अमोघ शक्ति है।

इन पत्रों के लिखाने वाले संत को मैं क्या कहूँ! अनेक बार ऐसा हुआ है कि साधन-काल में जिस क्षण व्याधियाँ प्रकट होती थीं मेरे मन में, उसी क्षण श्रीमहाराजजी जहाँ भी कहीं होते, मेरी दशा का पता चल जाता उनको और वे तत्काल ही उस व्याधि की निवृति के उपाय लिखवा कर भेज देते। कभी-कभी ऐसा होता था कि इधर मैंने प्रश्न लिखकर भेजने के लिए तैयार किया तब तक उधर से उत्तर लिखकर आ गया। कभी इससे भी बढ़कर आश्चर्यजनक बात यह हो जाती थी कि मुझे अपनी व्याधि का पता तब चलता जब पत्र में उसका निराकरण लिखकर आता था। मैं आश्चर्यचकित होकर रह जाती थी कि श्रीमहाराजजी ने मेरी उन गुत्थियों को जाना कैसे, जिसका मुझे भी पता नही था!

श्री महाराजजी की अहं-शून्य अर्न्तदृष्टि इतनी पैनी थी कि साधक के पथ मे उभड़ते हुए गहन से गहन मनोवैज्ञानिक एवं गुढ़ से गूढ़ दार्शनिक तथ्य उनको स्पष्ट दिख जाते थे। सर्वात्म-भाव से भावित संत-हृदय, भव-रोगों के दल-दल में फंसे हुए साधक को उबारने के लिए अति व्यग्र हो उठता था। आत्मीयता-

जनित अभिन्नता में वह संजीवनी-मूरि प्रकट होती थी जो साधक में नवजीवन का संचार कर सकती है।

उनके लिखाये हुए पत्रों ने मुझे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में 'पथ' और 'पाथेय', सब कुछ दिया है। साधन-काल की समस्याओं को सुलझाने के साथ-साथ भावी उद्भव का भी अथक अचूक प्रयास है इन पत्रों में—मेरे अवस्थान्तरण के साथ सम्बोधन के शब्द भी क्रमिक ढंग से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए जीवन की अन्तिम परिणति को इंगित करने वाले हो गये है। कितनी लगन, कितनी तत्परता थी उस परम कारुणिक संत के हृदय में एक आतुर साधक के जीवन को पूर्ण बनाने की! कितनी कलायें वे जानते थे भव-रोगों से दबे हुए अहं को ऊपर उठाकर उद्गम की ओर उन्मुख करने की! कभी-कभी पत्र पढ़ते-पढ़ते मैं पत्र-लेखक की महिमा में स्वयं ही खो जाती थी—पत्र पढ़ना भूल जाती थी।

मेरे लिए ये पत्र अमृत-कण हैं; जीवन-दर्पण हैं। प्रगति के पथ पर आगे-आगे बढ़ते जाने में इनके अर्थों की गहनता भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इनके संग्रह में प्रकाशन का ख्याल नहीं था। साधन-पथ के सम्बल के रूप में इनको संजोया मैंने—मेरा काम हो गया। अब इस 'पाथेय' से जीवन-पथ के अन्य पथिकों को पुष्टि मिले—इसी सद्भावना के साथ,

देवकी

अपने प्रति होने वाली बुराइयों का ज्ञान जिस ज्ञान में निहित है वही ज्ञान वास्तव में मानव का अपना पथ-प्रदर्शक है।

निज विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। इस विधान का बोध उन्हीं को होता है जो विवेक का अनादर नहीं करते। अतः निज विवेक का आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

— संतवाणी

गीता प्रेस कैम्प, कुम्भ मेला
इलाहाबाद
२५—१—१९५४

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार।

सरलता से हरा-भरा पत्र मिला। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर आवश्यक शक्ति का विकास अपने आप होता है। जो सेवा मिली है उसे योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रम पूर्वक करती रहो। प्रत्येक कार्य के अन्त में सहज भाव से, प्रीति पूर्वक, हृदय से, अपने परम प्रेमास्पद को पुकारती रहो। सब प्रकार से उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर अचिन् तथा अभय हो जाओ। अपनी साधना को अपने लिए सर्वोत्कृष्ट साधना समझो। साधना में सद्भाव आ जाने पर सफलता अवश्य होती है। जब साधक का समग्र जीवन साधन बन जाता है,तब सिद्धि स्वतः होती है। जिस साधना में निस्संदेहता तथा विश्वास एवं प्रियता उत्पन्न हो जाती है वही साधना साधक को करनी चाहिए। जिस प्रकार प्रत्येक औषधि किसी-न-किसी रोग को मिटाने में समर्थ है, उसी प्रकार प्रत्येक साधना साधक को सफलता प्रदान करने में समर्थ है। सत्संग की आवश्यकता एकमात्र साधन-निर्माण के लिए होती है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा
....

२

इलाहाबाद : १०—२—५४

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार।

ता० ३-२ का लिखा हुआ पत्र मिला। समाचार विदित हुआ। साधन के निर्माण के लिए साधक की योग्यता का अध्ययन अत्यन्त अनिवार्य है, इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि साधन साधक की योग्यता के अनुसार ही हो सकता है। साधक की योग्यता क्या है, इसको जानने के लिए साधक की दशा का अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है। साधन उसे नहीं कहते जिसे साधक कर न सके और साधन उसे भी नहीं कहते जिसमें साधक को किसी प्रकार का सन्देह हो और साधन उसे भी नहीं कहते जो साधक को रुचिकर न हो। इस दृष्टि से वही साधन साधन है जिसमें उपरोक्त तीनों बातें हों। इसके लिए ही साधक की योग्यता का अध्ययन करना अनिवार्य है। मन में उत्पन्न हुई बातों को स्पष्ट जानने का प्रयत्न करती रहो। उसमें से जो आवश्यक हो उनको पूरा करके उनसे छुटकारा प्राप्त कर लो। और जो आवश्यक न हों उन बातों को विचार पूर्वक मिटा दो। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्प की निवृत्ति हो जाने पर मन शुद्ध हो जाता है। मन के शुद्ध होते ही भोग योग में और पराधीनता स्वाधीनता में बदल जाती है, हृदय प्रेम से भर जाता है और अमर जीवन का अनुभव हो जाता है जो प्राणी की वास्तविक माँग है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो, जो कुछ करो मन लगा कर करो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

... .

३

बस्ती : २२—२—५४

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्यारी बिटिया,

बहुत-बहुत प्यार ।

सरल ईमानदारी से हरा-भरा पत्र मिला । शरीर विश्व की वस्तु है, उसे जब तक रहना है; उन्हें जो कार्य कराना है; करायेंगे । अपना लक्ष्य तो प्रत्येक अवस्था में प्रेमास्पद की रजा में राजी रहना है । उनके मंगलमय विधान का ही आदर करना है, क्योंकि सभी प्रकार से उनके होकर रहने में जो रस है वह वर्णन से अतीत है । प्यारी बिटिया, जिस प्रकार गंदी नाली साफ करते समय दुर्गन्ध अधिक बढ़ जाती है, उसी प्रकार बैठकर प्रिय चिन्तन करते समय मन में भरी हुई विचारधारा स्पष्ट निकलने लगती है । इसका अर्थ यह नहीं है कि मन व्यर्थ चिन्तन में लगा है । इसका तो वास्तविक अर्थ यह है कि मन में जो व्यर्थ चिन्तन भरा था वह अब निकल रहा है । ऐसा करते-करते एक दिन मन साफ हो जायेगा और प्रिय-चिन्तन से भर जावेगा ।

चलते फिरते जप करने में सुविधा इस कारण प्रतीत होती है कि क्रिया शक्ति का व्यय चलने में और भाव-शक्ति जप में लग जाती है । बैठकर जप करने में ऐसा कारण नहीं होता कि क्रिया-शक्ति भी जप में लगाती हो । जिस कार्य में रस आने लगता है उस कार्य में मन लग जाता है अथवा जिस कार्य के न होने का दुःख बढ़ जाता है, उस कार्य में मन लग जाता है । मानसिक-जप बिना स्नान किये प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है । वाणी से जप उसी अवस्था में करना अधिक हितकर होता है जब बाह्य-पवित्रता हो । इसका अर्थ यह नहीं

है कि तुम विना स्नान किये जप नहीं कर सकतीं। जिस प्रकार भोजन की रुचि बढ़ाने के लिए चौके को साथ-सुथरा तथा मेज को सजाते हैं उसी प्रकार मन के रजोगुण तथा तमोगुण को दूर करने के लिए तथा मन को रुचिकर बनाने के लिए वाह्य-स्नान की तैयारी की जाती है। जिनमें भाव-शक्ति तथा सरल-विश्वास जागृत हो जाता है वे प्रत्येक अवस्था में जप कर सकते हैं। मधुर स्वर के साथ इतनी आवाज मे प्रत्येक मन्त्र का जाप किया जा सकता है जिससे वाह्य और कोई आवाज मन में न आये। उच्चारण करना और श्रवण करना दोनों वृत्तियां जप में लग जांय। इसी प्रकार मन से बोलने, सुनने तथा देखने की चेष्टा करनी चाहिए। मन की वाणी से बोलो, मन के कानों से सुनो और मन के नेत्रों से देखो कि जप यथावत् चल रहा है। ये सारी बातें तभी तक आवश्यक है जब तक मन पक्षी प्रेम-जाल में नहीं फंसता।

बुद्धि हमें अपने को निर्दोष बनाने के लिए तथा हृदय प्रेमास्पद के सरल-विश्वास से भरने के लिए मिला है। बुद्धि का उपयोग अपने मन को निर्दोष बनाने में और हृदय का उपयोग प्रिय के विश्वास में करना चाहिए। ज्यों-ज्यों मन में निर्दोषता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों हृदय प्रिय-विश्वास तथा प्रिय-प्रेम से स्वतः भरता जाता है।

हमारे बनाये हुए दोषों ने ही प्रिय-प्रेम से विमुख किया है। बड़े हर्ष की बात है कि तुम अपने दैनिक-कार्य को ठीक-ठीक चला रही हो। उस प्रत्येक कार्य को पूजा समझो, क्योंकि उनके नाते किया हुआ कार्य तथा उनका चिन्तन दोनों समान ही अर्थ रखते हैं। तुमको पुनः बहुत-बहुत प्यार। ● तुम्हारा

....

४

पटना : ५—४—५४

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा २७—३ का लिखा पत्र रीडाइरैक्ट होकर यहाँ मिला। शारीरिक अस्वस्थता ज्यों-की-त्यों चल रही है पर कोई चिन्ता जनक बात नहीं है। रोग प्राकृतिक तप है, उसे हर्ष पूर्वक सहन कर लेना चाहिए। ऋषिकेश (स्वर्गाश्रम) रांची की अपेक्षा तो काफी गरम है—यहाँ का जल ठण्डा है। रात्रि को अधिकतर लोग बाहर सोते हैं पर फिर भी हवा चलने पर या थोड़ी वर्षा हो जाने पर ठण्डा हो जाता है। सत्संग तो मन मार कर, प्रतिकूलता सहन करके ही करना होगा। जिन्हें केवल एन्जौय (Enjoy) करना है, घूमना है, वे सत्संग में अधिक दिन नहीं ठहर पाते। सर्वहितकारी भाव से की हुई प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्त-चित्त शुद्ध करने में समर्थ है—जहाँ रहो प्रसन्न रहो। ओ३म् आनन्द।

तुम्हारा

....

५

मेरठ : ७—७—५४

स्नेहमयी मेरी दुलारी बिटिया,

बहुत-बहुत प्यार।

सरलता से हरा-भरा पत्र मिला। प्राप्त कार्य द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करते हुए हृदय में उत्तरोत्तर प्रीति की गंगा लहराती रहे। इसके लिए अथक प्रयत्नशील बनी रहो। यद्यपि इस मार्ग

में अप्रयत्न ही वास्तविक प्रयत्न है, पर वह तभी सम्भव होगा जब तुम अपने में अपना कुछ न पाओगी, अथवा यों कहो कि अपना सब कुछ देकर अपने प्रियतम को रिझाओगी। तुम सच मानो, वे तुम्हारी ही जाति के हैं। तुम उनकी नित्य-प्रिया हो। वे तुम्हारी प्रीति में ही छिपे हैं। उनसे देश-काल की दूरी नहीं है। सब ओर से विमुख होने पर तुम अपने ही में अपने राम को पाओगी। तुम भले ही उन्हें नहीं जानतीं, पर वे तुम्हें भली-भाँति जानते हैं। जब तुम किसी और को अपना न मानोगी तब तुम्हें भी उनका स्वतः बोध हो जायगा। प्यारी मुन्नी। उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही आस्तिक प्राणियों का जीवन है। उनकी निर्भरता ही परम पुरुषार्थ है।

जो कुछ हो रहा है, उसमें उन्हीं की मधुर लीला अनुभव करो और मिले हुए अभिनय को उन्हीं की प्रसन्नतार्थ, यथावत् करती रहो। अभिनय के अन्त में प्रीति बनकर उनसे अभिन्न हो जाओ। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जायगी, त्यों-त्यों जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगेगा। तभी चिर-शान्ति तथा नित-नव-रस की उपलब्धि होगी, जो प्रेमी की मांग और प्रेमास्पद का स्वभाव है।

उनके अतिरिक्त और किसी में लेशमात्र भी ममता न रहे और उनसे भी किसी प्रकार की चाह न रहे। उनकी चाह ही अपना जीवन बन जाय। वे जो चाहें सो करें। अपने को उसी में सन्तुष्ट रहना है। उनका प्रेम ही अपना अस्तित्व है। ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

तुम्हारा

....

६

जयपुर : १६—७—१६५४

स्नेहमयी मेरी दुलारी बिटिया,

सर्वदा अचिन्त तथा अभय बनी रहो।

जब वाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही कार्य उनकी पूजा है, तब अभिनय क्यों नहीं ठीक होता। प्यारी बेटी, वास्तव में तो सब कुछ स्वतः हो रहा है। तुम अपने प्यारे की लीला देखती रहो और स्वयं प्रीति बनकर उन्हें लाड़ लड़ाती रहो। उनसे भिन्न की सत्ता पर तो दृष्टि ही मत जाने दो। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में चित्र भासने लगता है उसी प्रकार उन्हीं में यह सारा जगत भासता है। "ज्यों-ज्यों राम का प्रेम काम को खाता जाता है त्यों-त्यों जगत-भाव मिटता जाता है। तुम उस अनन्त की यन्त्र मात्रवत् हो, अथवा उनके खेलने की खिलौना हो। तुम्हारे द्वारा तो उन्हें अगाध रस मिलना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा जब तुम अपने में अपना कुछ न मानो, अर्थात् ऐसा समझो कि मैं सहित सब कुछ तेरा है, तेरा है—यह मन्त्र जीवन से चरितार्थ कर दो बस, बेड़ा पार है। तुम देह नहीं हो, प्रत्युत प्रेम से निर्मित उनकी नित्य-प्रिया हो। तुम्हें उनको प्रेम देना है और अभिनय के स्वरूप में उनकी सेवा करना है—प्यारी बिटिया, व्यर्थ चिन्तन मिट जाने पर आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होता है। अचाह अप्रयत्न ही तो इस मार्ग का महामन्त्र है जिसे तुमने अनेक बार, अनेक युक्तियों से सुना तथा समझा है। प्रत्येक कार्य में प्रीति समाप्त होनी चाहिए। वे एक-मात्र प्रीति ही देखते हैं, और कुछ नहीं। तुम निःसन्देह उनकी जाति की हो और उनकी हो। उनके प्रेम को ही अपना जीवन मानो। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार। ओ३म् आनन्द।

तुम्हारा

....

७

जयपुर : ३—८—५४

स्नेहमयी दुलारी बिटिया,

सर्वदा प्रसन्न रहो।

सरलता से हरा-भरा पत्र मिला। जो साधक सत्पुरुषों तथा सद्ग्रन्थों से सुने हुए पर अविचल श्रद्धा रखते हैं तथा निज विवेक पूर्वक जाने हुए का आदर करते हैं एवं सद्भाव पूर्वक माने हुए से प्यार करते हैं, वे बड़ी ही सुगमता पूर्वक साधन-निर्माण कर लेते हैं। ऐसा कोई सन्देह हो ही नहीं सकता जो निज विवेक के प्रकाश से मिट न जाय। और जहाँ वास्तविक ममता हो वहाँ प्रीति का उदय न हो जाय, अर्थात् अवश्य हो जाता है और निज-विवेक से सन्देह भी मिट जाता है। दुलारी बेटी हम सब जिसके प्रकाश से प्रकाशित हैं तथा जिसकी सत्ता से सत्तावाले हैं, वह सब प्रकार से पूर्ण तथा अनन्त है। अपने अनेक विश्वास उन्हीं के विश्वास में और अनेक सम्बन्ध उन्हीं के सम्बन्ध में एवं अनेक चिन्तन उन्हीं के चिन्तन में विलीन करना है। यही आस्तिक प्राणी का परम पुरुषार्थ है। प्यारी मुन्नी, जो अपने हैं वे अपने बिना नहीं रह सकते। उनसे देश काल की दूरी नहीं हो सकती। प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा उनकी पूजा बड़ी ही सुगमता पूर्वक की जा सकती है। अपने और उनके नित्य सम्बन्ध पर कभी सन्देह नहीं करना चाहिये।

शरीर का तापमान लगभग ९९° रहता है, पर कोई कष्ट नहीं है। लेश-मात्र भी चिन्ता न करो—पुन: तुमको बहुत-बहुत प्यार। ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

तुम्हारा

....

८

जयपुर १०—८—५४

स्नेहमयी, कर्त्तव्यनिष्ठ दुलारी बिटिया,

सदैव शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

सरलता से हरा-भरा पत्र मिला । जो नहीं कर पा रही हो, उसके लिए चिन्ता न करो और जो कर पा रही हो उसे निर्मोहता पूर्वक, प्यारे प्रभु के नाते करती रहो ।

दुलारी बेटी ! तुम देह नहीं हो । तुम्हारा अस्तित्व प्रीति से निर्मित है । अतः तुम सर्वदा मेरे समीप हो । देह तो समीप होने पर भी दूर ही रहती है और प्रीति देह से दूर होने पर भी अभिन्न ही रहती है । इस दृष्टि से देह की दूरी वास्तव में दूरी नहीं है—और देह की निकटता निकटता नहीं है । प्रीति की एकता ही एकता है जो आस्तिकों का आस्तित्व है ।

विवेक अलौकिक विधान है–उसके प्रकाश में मोह-रहित हो कर प्रीति को सबल तथा स्थायी बनाओ, जो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है । प्रीति में ही अनन्त रस छिपा है । प्रीति ही प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है । प्रीति ही आस्तिक की साधना है । प्रीति से भिन्न जो कुछ है, वह तुम नहीं हो । तत्त्व-दृष्टि से जो प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ है ही नहीं—ऐसा अनुभव कर कृतकृत्य हो जाओ । पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

तुम्हारा

....

६

२० रामपुर रोड, जयपुर
१६—७—५४

स्नेहमयी दिव्य ज्योति.................

बहुत-बहुत प्यार।

प्रत्येक कार्य तन्मयता पूर्वक करना ही वास्तविक साधना है। प्रत्येक प्रवृत्ति उसी भाव में स्वतः विलीन हो जाती है जिससे आरम्भ होती है। ॐ आनन्द।

तुम्हारा
....

१०

२० राम बाग रोड, जयपुर
२५—८—५४

स्नेहमयी परम आस्तिक दुलारी बिटिया,

सदैव प्रसन्न रहो।

सरल विश्वास तथा ईमानदारी से हरा-भरा पत्र मिला। शरीर को जब जैसा रहना है, रहेगा। उसके बनने बिगड़ने से अपना कुछ बनता बिगड़ता नहीं। शरीर चाहे जैसा रहे, पर अपने को प्रत्येक अवस्था में उनकी अहैतुकी कृपा का अनुभव होता रहे और हृदय उनकी प्रीति से भरा रहे। इतना ही नहीं सच तो यह है कि प्रीति ही अपना जीवन है। प्रीति उदय होने पर किसी प्रकार का श्रम अपेक्षित नहीं रहता। कारण कि, प्रीति कोई अभ्यास नहीं है। प्रीति तो प्रेमियों का जीवन है परन्तु प्राणी प्रमादवश उस प्रीति को विषयों की आसक्ति में बदल देता है—अपने को देह मान कर। बाह्य-जीवन विश्वरूप भगवान के अधिकारों का समूह है, और कुछ नहीं। ज्यों-ज्यों उसकी पूर्ति होती आती है, त्यों-त्यों तत्त्व-जिज्ञासा स्थायी

होती जाती है। सब प्रकार के अभिमान गल जाने पर तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है और स्वाभाविक प्रीति जागृत हो जाती है। प्रीति की भी पूर्ति नहीं होती। वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। इच्छाओं की निवृत्ति होती है, जिज्ञासा की पूर्ति होती है और प्रीति की वृद्धि होती है।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

तुम्हारा

....

११

२० राम बाग रोड, जयपुर

६--९--५४

स्नेहमयी, परम आस्तिक, दुलारी बिटिया,

सदैव प्रसन्न रहो।

तुम्हारे दोनों पत्र यथा समय मिल गये। पूर्व पत्र में तुमने प्रीति नहीं बन रही है, नित-नव-उत्साह नहीं बढ़ रहा है, आदि बातों को विचार करने की चर्चा लिखी है। इस सम्बन्ध में मेरा यह मत है कि अपने को समर्पण करने के पश्चात् भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। जब तुम अपने में अपना कुछ न पाओगी तब सब कुछ स्वतः हो जायगा। जो कुछ हो रहा है, उसमें अपने प्यारे की लीला का अनुभव करो। जो कुछ कर रही हो, उसे सावधानी पूर्वक उन्हीं के नाते मोह-रहित, निष्काम भाव से, करती रहो। जो सर्व प्रकार से सर्व समर्थ प्रभु के हो जाते हैं, वे मेरे नित्य साथी हैं।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

तुम्हारा

....

१२

जयपुर : १६—११—५४

स्नेहमयी, कर्तव्यनिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रसन्न तथा अभय रहो।

जब तुम यह जानती हो कि सर्वज्ञ सर्वदा एक ही प्यारे प्रभु की सत्ता विद्यमान है, तब परिस्थिति भेद होने पर अच्छा लगता है या नहीं, यह प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है। प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने प्यारे प्रभु की ही पूजा करना है। अनेक भावों तथा कर्मों द्वारा उन्हीं को रस देना है। प्रेमी का अस्तित्व ही रस की खान है। उसके द्वारा वही होता है जिससे प्रेमास्पद को रस मिले, क्योंकि प्रेमी के पास अपना मन तो रहता नहीं, प्रेमास्पद का मन ही उसका मन हो जाता है। बे-मन का होकर रहने में जो विलक्षणता है, वह वर्णन नहीं हो सकती, पर बे-मन का होना सम्भव है। उसके लिए अपने को कभी भी असमर्थ नहीं मानना चाहिए और न निराश होना चाहिए, अपितु नित-नव-उत्साह पूर्वक बिना मन के होकर रहने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अब यह विचार करना है कि अपने समीप अपना मन न रहे, इस उद्द्देश्य की पूर्ति के लिए क्या प्रयत्न करना है; तो कहना होगा कि अप्रयत्न पूर्वक अपने को समर्पण कर अचिन्त तथा अभय हो जाना है। जिस प्रकार पत्ता वायु की सत्ता से ही गतिशील रहता है, उसी प्रकार प्रेमी प्रेमास्पद की सत्ता से ही ऊपर से गतिशील और भीतर से निष्क्रिय रहता है, अर्थात् उसकी प्रवृत्तियों में अभिमान की गन्ध भी नहीं रहती।

अब नियम है कि निरभिमानता पूर्वक की हुई प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति में विलीन हो जाती है और फिर प्रीति और प्रीतम की लीला से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। प्रीति रस-रूप है और प्रीतम आनन्दघन हैं। वे स्वरूप से दोनों ही दिव्य चिन्मय तथा अनन्त हैं।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार। ●

तुम्हारा

....

१३

लखनऊ : २३—११—५४

स्नेहमयी कर्तव्यनिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रसन्न रहो।

तुमने इतनी जल्दी रुपया क्यों भेज दिया। क्या तुम उसकी खजांची नहीं थी कि जिसका रुपया है। कहीं तुम्हारे मन पर आश्रम की हानि का दुःख तो नहीं। देखो रानी, आश्रम उसका है जिसका सारा संसार है। अतः उसकी दृष्टि में लेने-देने वाला एक ही है। जिस शरीर को तुम अपना कहती रही हो, वह भी उसी का है—जिसका आश्रम। उसके स्वास्थ्य का भी यथेष्ट ध्यान रखना। सेवा करने के लिए शरीर को स्वस्थ रखना परम अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य से अपने प्यारे प्रभु की पूजा करो और उनको रस प्रदान कर कृतकृत्य हो जाओ। तुम सदैव उनकी और वे तुम्हारे हैं। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार। ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!! ●

तुम्हारा

....

१४

वेटिंग रूम, बीना
८—१२—५४

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ दुलारी बेटी,
सर्वदा प्रसन्न तथा अचिन्त रहो।

दुलारी, तुम निःसन्देह प्यारे प्रभु की प्रीति हो। मानव सेवा सङ्घ की सम्पत्ति तथा समाज की विभूति हो। तुम्हारे द्वारा प्यारे प्रभु अपने अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य को प्रदान कर उसी प्रकार अपने विश्वरूप की सेवा करायेंगे जिस प्रकार सूर्य देवता दीपक को अपनी सत्ता देकर अपनी आरती करा लेते हैं। यह सभी विज्ञानवेत्ताओं को मान्य होगा कि दीपक सूर्य की सत्ता से ही सत्ता वाला है। उसी प्रकार मानव में जो मानवता विद्यमान है वह तुम्हारे प्यारे प्रभु की ही दिव्यता है। उनकी विभूतियों से ही उनकी सेवा करनी है।

मन के विपरीत होने वाली घटनाओं में प्यारे प्रभु की अनिर्वचनीय कृपा का अनुभव तभी हो सकता है जब मन में ममता न रहे। मन के प्रति छिपी हुई ममता ही प्रतिकूलताओं में प्यारे की कृपा का अनुभव नहीं होने देती। अनुकूलताओं में उनकी दया का अनुभव तो केवल उनके विश्वास को ही प्रदान करता है। विश्वास सम्बन्ध की दृढ़ता प्रदान करने में समर्थ है। सम्बन्ध की दृढ़ता प्रीति को सबल तथा स्थायी करने में हेतु है और प्रीति दूरी तथा भेद मिटाने में समर्थ है। रोगी, वृद्ध एवं बालक तथा विरक्त संग्रहीत-सम्पत्ति के अधिकारी हैं। इस

सिद्धान्त के अनुसार सर्वदा प्राप्त अर्थ का सद्व्यय करना चाहिए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

तुम्हारा

....

१५

कलकत्ता : १०—१—५५

स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। विरह की वेदना और मिलन के आनन्द में अगाध अनन्त रस छिपा है तो फिर अशान्ति के लिए स्थान ही कहाँ है ? बेचारी अशांति तो उस समय तक जीवित रहती है जब तक हम सब प्रकार से जिनके हैं, उनके हो नहीं जाते। उनके हो जाने पर फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता और अनेक रूपों में उनकी ही प्रेममयी नित नव-लीला का स्वतः अनुभव होने लगता है, जो प्रेम-प्राप्ति का मुख्य साधन है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।
ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

तुम्हारा

....

१६

भागलपुर—२०—१—५५

निर्विकल्पता से अतीत चिन्मय लोक निवासिनी प्रीति स्वरूपा,

तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

श्री गंगासागर-यात्रा से ता० १५ को प्रातः ही कलकत्ते वापिस आ गया था। पर जहाज से उतरने के कुछ देर बाद ही ज्वर के स्वरूप में उनकी विशेष कृपा हुई।

सत्ता रूप में जो सर्वत्र सर्वदा विद्यमान हैं, प्रीति रूप से उन्हीं की तुम नित्य-प्रिया हो। मिलन और विरह तुम्हारी दो प्रधान विभूतियाँ हैं। दोनों ही रस रूप हैं, दिव्य है, चिन्मय हैं। इतना ही नहीं, मिलन ही विरह में और विरह ही मिलन में सर्वदा ओत-प्रोत है। तभी प्रीति अगाध तथा अनन्त है। न उसमें क्षति है न निवृत्ति और न उसकी पूर्ति। यही तुम्हारा नित्य बिहार है।

असत् का त्याग और सत् का संग युगपद है, जो अचाह तथा प्रयत्न से ही सिद्ध है। आदरपूर्वक प्राप्त अभिनय पूरा हो जाने पर अनन्त की कृपा-शक्ति स्वतः सब कुछ करती है। उसके लिए लेश-मात्र भी चिन्तन नहीं होना चाहिए। आलस्य मिटाने में ही पुरुषार्थ का महत्त्व और स्वार्थ गलाने में ही सेवा की महिमा निहित है, पर जिन्होंने विवेक पूर्वक अपने को 'यह' से असंग और विश्वास पूर्वक उनके समर्पित कर दिया है उनके द्वारा पुरुषार्थ तथा सेवा स्वतः होने लगती है और श्रम, संयम, सदाचार आदि आवश्यक शक्तियाँ उनमें बिना ही प्रयास के आ जाती हैं पर उनमें अपने को सन्तुष्ट नहीं कर पाते, क्योंकि दोष-रूपी काष्ठ को भस्म करने में गुणरूपी अग्नि का बड़ा महत्त्व हैं पर प्रीति की जाग्रति गुणों से अतीत है।

मासिक विश्लेषण आदि का उपचार गुण दोष युक्त जीवन में ही सम्भव है। ज्यों-ज्यों छिपे हुए दोष की निवृत्ति होती जाती है त्यों-त्यों गुण का अभिमान भी गलता जाता है। ज्यों-ज्यों गुण का अभिमान गलता जाता है, त्यों-त्यों अहं भाव भी गलता जाता है। ज्यों-ज्यों अहंभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों भेद तथा दूरी भी मिटती जाती है ज्यों-ज्यों भेद तथा दूरी मिटती जाती है त्यों-त्यों प्रीति प्रीतम से और प्रीतम प्रीति से अभिन्न होते जाते हैं। पर वे दोनों ही अनन्त नित्य चिन्मय हैं। इस कारण नित नव मिलन तथा विरह स्वतः होता रहता है, जो रस रूप है।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ●

तुम्हारा

……………… …

१७

प्रयाग

१-४-१९५५

स्नेहमयी दिव्य ज्योति, दुलारी बेटी ……………,

बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त एवं प्रसन्न रहो।

प्रत्येक प्रवृत्ति को सार्थक सिद्ध करने के लिए आवश्यक बल तथा विवेक की आवश्यकता अपेक्षित होती है जो उन्होंने बिना ही माँगे मानव-मात्र को प्रदान किया है। अतः उनकी दी हुई सामर्थ्य से ही उनकी पूजा करना है। तो फिर चिन्ता तथा भय के लिए स्थान ही कहाँ है? विभिन्न परिस्थितियों के स्वरूप में तुम्हारे प्यारे ही तो हैं,

अथवा यों कहो कि उन्हीं का तो यह सब खेल है और तुम भी उन्हीं की तो एक विभूति हो। उसमें भयभीत होनेपन की धूल क्यों मिलाती हो ?

सत्ता रूप से, सर्वत्र तुम्हारे ही तो प्यारे हैं। विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए ही तो परिस्थितियों के स्वरूप में अपने प्यारे की पूजा करना है। और नवीन राग उत्पन्न न हो, उसके लिए ही तो प्रवृत्ति के अन्त में परिस्थितियों से विमुख होना है। परिस्थितियों की असंगता परिस्थितियों के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करती हैं और परिस्थितियों का सदुपयोग असंगता को सुदृढ़ बनाता है। जिस प्रकार दायें-बायें पैर से ही यात्रा पूर्ण होती है, उसी प्रकार परिस्थितियों का सदुपयोग अथवा उनसे असंगता जीवन-यात्रा को सार्थक सिद्ध करती है। असंगता में नित्य-योग और परिस्थितियों के सदुपयोग में प्यारे की सेवा, निहित है। नित्य-योग में चिर-शान्ति तथा विचार का उदय विद्यमान है और परिस्थितियों के सदुपयोग में हृदय की निर्मलता स्वतः सिद्ध है। शान्ति से सामर्थ्य, और विचार से अमरत्व एवं निर्मलता से अनुराग की गंगा स्वतः लहराने लगती है, जो वास्तव में जीवन है।

तुम अपने को देह मानकर भयभीत हो जाती हो, जो वास्तव में, तुम्हारा ही प्रमाद है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु नित्य चिन्मय तत्व हो। अथवा यों कहो कि अपने प्यारे की प्रीति हो। प्रीति में ही प्यारे का निवास है पर उसका अनुभव उन्हीं साधकों को होता है जिनका अहं और मम गल कर प्रीति से अभिन्न हो जाता है। तुम रसरूप हो। तुम्हारे द्वारा ही तुम्हारे प्रिय को रस मिलेगा और प्रिय के द्वारा ही तुम्हें

रस मिलेगा। प्रीति और प्रियतम में रस का ही आदान-प्रदान है। हे रसखान दिव्य-ज्योति, तुम देह नहीं हो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

१८

स्वर्गाश्रम, गीता भवन
७-४-५५

स्नेहमयी दिव्य ज्योति, दुलारी बेटी,

बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुमने बड़े ही सुन्दर शब्दों में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को स्पष्ट लिख दिया है। मन में जो उथल-पुथल है, उसके कारण की खोज करो—तुम्हें भी विवेक का प्रकाश प्राप्त है। उससे सब कुछ स्पष्ट हो जायगा। प्रतिकूलता का उत्तर दे नहीं पातीं और उसे शान्तिपूर्वक सहन भी नहीं कर पातीं, अर्थात् न तो न्याय का आश्रय ले पाती हो, न क्षमा का। इसी कारण मन में हलचल है।

हानि तथा अपमान के कारण ही ऐसी दशा होती है। निर्लोभता आ जाने पर हानि का भय, और असंगता दृढ़ हो जाने पर अपमान का भय स्वतः मिट जाता है। उसके मिटते ही क्षमाशीलता तथा प्रीति की गंगा स्वतः लहराने लगती है। और फिर, भीतर-बाहर से एक-सा जीवन हो जाता है। क्या तुम यह नहीं जानतीं कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय,

तुम्हारे प्यारे का आदेश एवं साधन-सामग्री है। भला, उसमें जीवन-बुद्धि करना कहाँ तक उचित है? कदापि नहीं। अपने प्यारे का आदेश तो प्रेमियों को मङ्गलमय प्रतीत होता है, प्राकृतिक-न्याय भी निर्दोष बनाने के लिये होता है और साधन-सामग्री भी साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ होती है। अतः प्रत्येक दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदर ही तो करना है, उससे डरना नहीं है।

देखो रानी, तुम्हारा पथ-प्रदर्शक तुम्हारे अंग-संग है। वह तुमसे, तुम उससे कभी भी दूर नहीं हो। शरीर, प्राण तथा मन से विमुख होकर अपने प्यारे पथ-प्रदर्शक से सदैव मिल सकती हो। और उसका आदेश पाकर कर्तव्यनिष्ठ हो सकती हो। कर्तव्यनिष्ठा राग मिटाने की साधना है, और कुछ नहीं। राग-रहित होते ही अनुराग से अभिन्नता स्वतः हो जायगी, जो तुम्हारा स्वरूप है। तुम शरीर, प्राण, मन आदि से अतीत हो, प्रेम तथा चिन्मय जीवन—तत्व से निर्मित हो, अपने प्यारे प्रभु को रस देने में समर्थ हो। अतः अपने को भौतिकता में आबद्ध मत होने दो। प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्यारे के आदेश तथा सन्देश का पालन करो। यही तो देह द्वारा उनकी पूजा है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द! ●

तुम्हारा

....

१९

गीता भवन, स्वर्गाश्रम
८-४-५५

स्नेहमयी दिव्य ज्योति, दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

देह-बुद्धि से संयोग-वियोग, अपने-आप होने वाली वस्तु है। उसके लिए लेश-मात्र भी चिन्ता न करो। प्रीति हृदय की वस्तु है। उसमें देश-काल की दूरी कुछ अन्तर नहीं डाल सकती। इतना ही नहीं, प्रीति को सुदृढ़ और सबल बनाने के लिए वियोग भी अनिवार्य है। अपने सभी संकल्प उस अनन्त के समर्पण कर दो और वेचारे मन को निर्विकल्प रहने दो। मन की निर्विकल्पता में शान्ति और शान्ति में सामर्थ्य निहित है।

सत्संग तो तुम्हारा जीवन है। वह तो सदैव होगा ही, पर प्रिय-जनों का अधिकार तो पूरा कर ही देना है कारण कि, जिससे छुटकारा पाना हो उसकी सेवा करना अनिवार्य होता है और जिसको प्राप्त करना हो उससे केवल प्रेम। प्रेम की वृद्धि के लिए कोई परिस्थिति अपेक्षित नहीं है, केवल नित्य-सम्बन्ध की आवश्यकता है जिसके करने में प्रेमी सर्वदा स्वाधीन है। अतः प्रेम प्रत्येक परिस्थिति में किया जा सकता है। सेवा की भी भावना तो विभु है पर उसका क्रियात्मक रूप सीमित होता है। सत्संग में मन-बुद्धि आदि की सेवा होगी। अतः यथासम्भव दोनों ही सेवाएँ करना है।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

२०

गीता भवन
१५-४-५५

स्नेहमयी दिब्य ज्योति चिन्मयधाम निवासिनी,

बहुत-बहुत प्यार।

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। श्रम-रहित जीवन ही आस्तिक जीवन है। पर उसका अर्थ आलस्य, अकर्मण्यता एवं व्यर्थ चिन्तन नही है। श्रम-रहित होने का अर्थ है अपने आपका समर्पण। समर्पण भाव है, अभ्यास नहीं। इस साधना को चरितार्थ करने के लिए यह आवश्यक है कि साधक अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति का आश्रय लेकर भीतर बाहर से मौन रहने का स्वभाव बनाले। यद्यपि यह साधना प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वाभाविक होना चाहिए क्योंकि कार्य की सामर्थ्य शान्ति में ही निहित है। अतः शान्ति से ही प्रवृत्ति का उदय हो और शान्ति में ही विलीन हो। समस्त दिव्य शक्तियों का उद्गम-स्थान चिर-शान्ति है।

आज प्रातः यह प्रेरणा हुई कि उपरोक्त साधना को जीवन में उतारने के लिए यह आवश्यक है कि निश्चित समय, कुछ काल के लिए मूक सत्संग किया जाय। उसके लिए रात्रि के ९-३० बजे से १० बजे तक और प्रातः ३-३० बजे से ४ बजे तक शान्त मौन बैठा जाय। ऐसा होने पर यदि अनावश्यक संकल्प उत्पन्न हों तो समझना चाहिये कि प्यारे की कृपा-शक्ति चित्तशुद्धि कर रही है, अर्थात् संग्रहीत संकल्प निकल रहे हैं, अथवा यों कहो कि मन की काई धुल रही है। यदि शुद्ध-संकल्प उत्पन्न हों तो समझना चाहिए कि सार्थक चिन्तन द्वारा चिन्तन-रहित होने की

तैयारी हो रही है और यदि निसंकल्पता हो जाय तो समझना चाहिए कि नित्य-योग हो रहा है।

सावधानीपूर्वक भली भाँति जान लेना चाहिए कि मूक-सत्संग में कर्तृत्व व भोक्तृत्व न आने पाए, अर्थात् मैं कुछ कर रहा हूँ, यह भाव न बने, अपितु यही भावना रहे कि जो कुछ हो रहा है, उनकी कृपा-शक्ति से हो रहा है। और रुचिकर-अरुचिकर अवस्था का उपभोग भी न किया जाय। रुचिकर का सुख न लिया जाय और अरुचिकर का भय न हो, क्योंकि अपना लक्ष्य किसी अवस्था से संयोग करना नहीं है; कारण कि अपने प्यारे का धाम तो सभी अवस्थाओं से अतीत, दिव्य चिन्मय है। उसमें प्रवेश करने के लिए अवस्थाओं से विमुख होना अनिवार्य है जिसकी वास्तविक साधना समर्पण है, और कुछ नहीं। समर्पण से ही अहंभावरूपी अणु टूट जायगा। यह साधना आस्तिक की अन्तिम साधना है और अत्यन्त सुगम भी है। इस साधना का फल नित्य योग, बोध तथा प्रेम है, जो प्राणी की अन्तिम मांग है।

योग, बोध तथा प्रेम वर्तमान की वस्तु है। इसी कारण उसकी साधना श्रम-रहित है। श्रम का आरम्भ अहंभाव से होता है, जो कामना-पूर्ति के लिए अपेक्षित है। कामना-पूर्ति का सुख आस्तिक जीवन नहीं है। कामना-निवृत्ति से ही आस्तिक जीवन का आरम्भ होता है। कामना-निवृत्ति के लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं है, अपितु प्रवृत्ति-काल में प्राप्त बल विवेक का उपयोग और निवृत्ति-काल में चिरशान्ति रहना है। प्राप्त सामर्थ्य के उपयोग से शान्ति दृढ़ होती है और शान्ति से प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग होने लगता है। सामर्थ्य का सदुपयोग तथा शान्ति—इन दोनों से जीवन राग-रहित हो जाता है और फिर

योग, बोध और अनुराग स्वतः प्राप्त होता है। आशा है कि तुम भी इस साधना का आरम्भ कर दोगी।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

२१

गीता भवन
२६-४-५५

स्नेहमयी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ता० २१ का लिखा हुआ पत्र आज मिला। न जाने यह पत्र देर में क्यों पहुँचा। तुमने बड़ी ईमानदारी से लिखा है कि घर वालों को नम्रता तथा मधुर भाषा में पत्र नहीं लिख सकी, रुखाई के साथ लिखा है। देखो रानी, अब तुम्हारे जीवन में रुखाई के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि तुम्हारा समस्त जीवन स्नेह से निर्मित हो रहा है। रुखाई का मूल कारण क्रोध तथा क्षोभ है। उस पिशाच को जीवन से निकाल दो। तुम्हें निरन्तर प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की ही मौज का अनुभव करना है। सभी रूपों में, सभी परिस्थितियों में, सभी अवस्थाओं में, सत्तारूप से वे ही तो हैं, जिनकी तुम प्रीति हो। प्रीति में रुखाई कहाँ और यदि है भी तो बड़ी ही रसरूप !

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

२२

बलरामपुर
२५-११-५४

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रसन्न तथा शान्त रहो।

सरलता तथा ईमानदारी से हराभरा पत्र मिला। निसन्देह तुम मानवता की प्रतीक हो। मानवता तुम्हारी निज की सम्पत्ति है। उसके सदुपयोग तथा सुरक्षित रखने में तुम सर्वदा प्रयत्नशील हो और रहोगी, ऐसा मेरा विश्वास है। यह तो तुम्हारा भौतिक-चित्र है, पर वास्तव में तो तुम केवल प्रीति हो। यह तुम्हारा आस्तिक चित्र है। जब प्राणी अपनी प्रीति की सत्ता को देह से मिला लेता है, तब प्रीति आसक्ति का रूप धारण कर अनेक द्वन्द्व उत्पन्न करती है और छटपटाती है, शुद्ध प्रीति होने के लिए। उसकी वेदना-पूर्ण दशा को देखकर नित्य जीवन-साथी विवेक उदय होता है, जो उसे प्रीतम के पथ पर लगा देता है। वह तुम्हारा साथी सदैव तुम्हारे पीछे खड़ा है। जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि यथेष्ट विश्राम पा जायेंगे, तब तुम अपने नित्य-साथी को अपने में ही पाओगी, जिसके पाते ही अमर हो जावोगी और प्रेम-पुरी में जाकर नित-नव-रस का आदान-प्रदान कर अपने को कृतार्थ करोगी।

देह के स्वरूप में जो अभिनय मिला है उसे श्रम, संयम, सदाचार, सेवा, त्याग आदि से पूरा कर दो, जिससे छिपा हुआ राग निवृत हो जाय और तुम वीत-राग होकर नित्य जीवन, नित्य रस, नित्य प्यार को पाजावो।

अपने मन की बात अपने से मत छिपाओ बस, यही मन को निर्मल बनाने का सुगम उपाय है। तुमने बुद्धि के बल से मन पर शासन किया है इस कारण वह बेचारा निर्बल हो गया है, पर मलीन नहीं है। मन जो कुछ चाहता है उसे विवेक के प्रकाश में देखो, पर उस बेचारे को भय तथा लालच का शिकार मत होने दो, बस, बेड़ा पार है। लालच-रहित होते ही भय स्वतः मिट जायेगा। भय के मिटते ही सर्व इच्छाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति हो जायगी और फिर परम प्रेम की प्राप्ति होगी जो तुम्हारा नित्य स्वरूप है। तुम किसी भौतिक-पदार्थ से निर्मित नहीं हो। अतः अपने को देहादि वस्तुओं में आबद्ध मत होने दो। तुम उसी की जाति की हो जो तुम्हारा नित्य-साथी है। देखो बिटिया, जब मानव अपने प्यारे के प्रति आत्मीयता तथा जातीयता एवं नित्य-सम्बन्ध का अनुभव कर लेता है तब केवल प्रेम ही उसका जीवन हो जाता है। प्रत्येक प्रवृत्ति से अपने प्यारे की पूजा करो पर अभिनय व स्वरूप में, और प्रवृत्ति के अन्त में प्रीति होकर अपने प्रीतम का शृङ्गार बनो, जिससे तुम्हारे प्यारे की शोभा हो। जो उनको रस देने में समर्थ है, वही उनकी नित्य-प्रिया है। उनको रस देने में वही समर्थ है जो संकल्प पूर्ति तथा संकल्प-निवृत्ति की सुखासक्ति से अपने को मुक्त कर ले। कारण कि भोग तथा योग दोनों से परे प्रेम का राज्य है। तुम उसी देश की वासी हो। तुम्हें सदैव वहीं रहना है। यहाँ तो केवल सेवा, त्याग का अभिनय करने आई हो। यहाँ से तुम्हें कुछ लेना नहीं है, अपितु जो कुछ संग्रह कर लिया है, उसे वापस करना है—उसी प्रेमनगरी में जाने के लिए। तुम्हारी आत्म-कथा का सपना बड़ा ही सुन्दर तथा सरस है, पर यह जानती हो कि स्वप्न का साक्षी सर्वदा स्वप्न से अतीत है और स्वप्न सर्वदा सत्ताशून्य है। उस साक्षी की महिमा है कि

वह अपनी सत्ता से ही सभी को सत्ता देकर अपने को सभी अवस्थाओं से अतीत अनुभव करता है। यह उसकी नित-नव-लीला है। समस्त दृश्य में उन्हीं की सत्ता है। तुम प्रत्येक अभिनय करते हुए अपने प्यारे को जान लिया करो। भीतर से प्रीति पूर्वक अभिवादन करते हुए, बाहर से मर्यादा पूर्वक, प्यारे की पूजा करती रहो। ऐसा करने से मन में छिपी हुई देश-सेवा की कामना निवृत्ति हो जायगी और तुम अपने प्यारे की प्रीति बन कर उनसे अभिन्न हो जावोगी। जहाँ रहो प्रसन्न रहो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।
ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा
....

२३

बक्सर
४–२–५५

निजस्वरूपा चिन्मय धाम विहारिणी,

सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार।

असंगता, अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। कारण कि, देह आदि से असंग होते ही कर्म, चिन्तन, स्थिति अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद, अर्थात् नित्य योग स्वतः प्राप्त हो जाता है। नित्य योग में ही चिर शान्ति निहित है और चिर-शान्ति में ही आवश्यक शक्ति का विकास निहित है, अथवा यों कहो कि चिर-शान्ति सभी गुणों तथा दोषों को खाकर सभी से अतीत चिन्मय नित्य-जीवन से अभिन्न कर देता है, क्योंकि जब दोषों की

उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान गल जाता है, तब सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। उसके मिटते ही सभी भेद मिट जाते हैं, अर्थात् जिनसे देश-काल की दूरी नहीं है, उनसे अभिन्नता हो जाती है।

अवस्था-भेद होने पर भी प्रीति-भेद नहीं होता, अर्थात् प्रीति विभु हो जाती है। सभी अवस्थाओं को पार करती हुई, जो सभी से अतीत है, उसी में प्रीति विलीन होती है, किन्तु उसकी पूर्ति नहीं होती, क्योंकि जो सभी अवस्थाओं से अतीत है, वह अनन्त है। अतः अनन्त की प्रीति भी अनन्त है, अथवा यों कहो कि प्रीति अनन्त का ही स्वभाव है और प्रीति ही में अनन्त का निवास है। अनन्त की प्रीति ही अनन्त को रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रीति और प्रीतम में जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

प्रीति ही तुम्हारा वास्तविक अस्तित्व है। वही प्रीति जब देहादि अवस्थाओं से मिल जाती है, तब अनेक आसक्तियों के रूप में प्रतीत होती है और जब देहादि से विमुख हो जाती है तब नित्य, चिन्मय-जीवन प्रदान करती है और वही प्रीति जब अनन्त से मिल जाती है तब भक्ति रस प्रदान करती है, अर्थात् आसक्ति में जो अनित्य रस की झलक है वह भी प्रीति की ही छाया है और निजानन्द भी प्रीति का ही चमत्कार है और नित-नव-रस भी प्रीति की ही महिमा है।

विवेकपूर्वक देह आदि की असंगता वास्तविक साधना है, कारण कि, किसी की असंगता ही किसी की अभिन्नता हो जाती है। असंगता उसी से हो सकती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता हो और अभिन्नता उसी से हो सकती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। असंगता की साधना वर्त-

मान से सम्बन्ध रखती है, जिसके प्राप्त होते ही समस्त बन्धन स्वतः टूट जाते हैं और स्वाभाविक स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता में ही अपना अस्तित्व निहित है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता आजाने पर ही प्रीति जाग्रत होती है। इस दृष्टि से प्रीति अप्रयत्न तत्व है।

विवेकपूर्वक असंगता, अथवा विश्वासपूर्वक समर्पण। इन दोनों का फल एक है। अन्तर केवल इतना है कि असंगता में प्राप्त विवेक का उपयोग और समर्पण में प्राप्त विश्वास का उपयोग है। विश्वास आसक्ति की निधि है और विवेक जिज्ञासु का का आश्रय है।

जिज्ञासा की पूर्ति विवेक में और प्रेम की प्राप्ति विश्वास में सर्वदा निहित है। शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

२४

गाजीपुर
१०-२-५५

देहातीत दिव्य स्वरूपा,

सर्वदा प्रसन्न रहो।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। सभी अवस्थाएँ तुम्हीं से सत्ता पाकर तुम्हारे सामने नृत्य कर रही हैं। तुम उस अनन्त की ही नित्य प्रिया हो। उनकी प्रीति ही तुम्हारा जीवन है। वे तुममें और तुम उनमें सदैव निवास करती हो। तुम्हारा और उनका नित्य-मिलन और नित्य-वियोग है। तुम रस की खान

हो और वे रसराज शिरोमणि हैं । तुम दोनों स्वरूप से एक हो, पर प्रेमास्वादन के लिए एक होकर ही दो-जैसे भासते हो। वास्तव में तो जो जिसकी प्रीति है, उसमें सत्ता उसी की है ।

क्रियाशीलता, चिन्तन तथा शान्ति तुम्हारे खेलने का मैदान हैं, पर वह तुम्हारा निवास नहीं है। उस अनन्त की लीला में जब जो अभिनय मिले, उसे उन्हीं की प्रसन्नतार्थ, सहजभाव से होने दो । बस, सभी समस्याएं स्वयं हल हो जायेगीं । सत्ता रूप से तो प्रिय से भिन्न कुछ हुआ ही नहीं । पर यह अनुभव उन्हीं को होता है जो 'यह' से अपने को सर्वदा असंग कर चिन्मय धाम में, प्रीति होकर बिहरते हैं। कारण कि अनन्त की प्रीति भी अनन्त है। प्रीति श्रम नहीं, अभ्यास नहीं, प्रयत्न नहीं है, अपितु नित-नव-रस है, जिसके लिए तुम दोनों ही परस्पर में नित-नव-लीला करते हो, अथवा यों कहो कि आस्तिक-जीवन में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो अपने आपमें सर्वदा पूर्ण है, अनन्त है, अपार है और नित-नव है ।

तुम्हारे दोनों पत्र कल प्राप्त हुए अथवा यों कहो कि पत्र के स्वरूप में भेंट हुई । जब तक भौतिक मन में अर्थ का महत्व है, तब तक उसका अपव्यय मन में खटकता है और उसकी प्राप्ति सुखद प्रतीत होती है । जब गये हुए रुपये की प्राप्ति अभीष्ट नहीं थी, तब मन में सन्देह की उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिए, अपितु मन में भावना होनी चाहिए थी कि तुमने चोर बनकर क्यों लिया ? और कर्त्तव्य-बुद्धि से उसके रखने उठाने में असावधानी नहीं करनी चाहिए थी और जब सरलता से उत्पन्न हुआ सन्देह प्रगट कर दिया तब उसकी प्रतिक्रिया से क्षोभित नहीं होना चाहिए। काम बढ़ रहा है और रुपया आ रहा है, उससे भयभीत होना साधन और जीवन में भेद सिद्ध करता है। सभी परिस्थि-

तियों में अपने प्यारे की अनुपम लीला का ही अनुभव करना है। तभी अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय मिटेगा।

सच तो यह है कि शरीर के बनने बिगड़ने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। रोग प्राकृतिक तप है, उसको सहर्ष सहन करना ही परम औषधि है और शरीर से असंग होना ही परम पुरुषार्थ है, जो नित्य-जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

सर्वदा प्रसन्न रहो।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

२५

वृन्दावन

१०-३-५५

चिन्मय धाम विहारिणी प्रीति स्वरूपा,

सर्वदा प्रसन्न रहो।

मधुर स्नेह तथा सरलता से हराभरा पत्र मिला-अपने परिवर्तन का ज्ञान अपने को तभी तक होता है जब तक किसी भी अवस्था से एकता है, अर्थात् गुण तथा दोष का संग है। वास्तव में तो मृत्तिका के परिवर्तन का ज्ञान कुम्हार को होता है, मृत्तिका को नहीं।

शिथिलता और शान्ति में केवल अन्तर यह होता है कि शिथिलता कालान्तर में क्षोभ उत्पन्न करती है और शान्ति से आवश्यक शक्ति का विकास होता है। आशा का बल उत्तरोत्तर उत्कण्ठा को सबल तथा स्थायी बनाता है। वास्तविक आशा सम्बन्ध की दृढ़ता की प्रकाशक है जो वास्तव में साधन-तत्व है।

असावधानी, झूठा सन्तोप देकर निराशा की ओर ले जाती है जो प्रमाद है।

हर्ष तथा विषाद के आक्रमणों से वचने के लिए क्षमाशील तथा कामना रहित होना अनिवार्य है। अपने प्रति होने वाले अन्याय के बदले में लेशमात्र भी दण्ड देने की भावना उदय न हो तो समझना चाहिए कि क्षमाशीलता का अवतरण होने लगा और कामना-पूर्ति में सन्तोष न हो तो समझना चाहिए कि कामना-रहित होने की योग्यता का प्रादुर्भाव हुआ। ज्यों-ज्यों सीमित अहं-भाव गलता जाता है, त्यों-त्यों सभी दोप मिटते जाते है और सभी गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं, अहंभाव गलाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सुख तथा मान के लालच को त्याग वर्तमान का सदुपयोग किया जाय और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में प्रिय की मधुर स्मृति अपने आप होने लग जाय। मधुर स्मृति जप नहीं है और न अभ्यास है, अपितु प्रिय के मिलन की उत्कण्ठा है। मधुर स्मृति उन्हीं साधकों में उत्पन्न होती है जो कभी निराश नहीं होते और न जिनको अपने साधन का बल होता है और न जिनमें दोष-जनित सुख-भोग की रुचि होती है। सुख भोग की अरुचि ज्यों-ज्यों दृढ़ होती जाती है त्यों-त्यों प्रिय-मिलन की लालसा सबल तथा स्थायी होती जाती है, कारण कि, विषय-विरक्ति में ही प्रभु-अनुरक्ति निहित है।

प्रत्येक परिस्थिति, कर्मविज्ञान की दृष्टि से, प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय प्राणी के उत्थान का हेतु है। उत्थान की लालसा उस अनन्त की करुणा है जिसकी तुम विभूति हो। अतः प्रत्येक परिस्थिति प्रेमास्पद का आदेश तथा सन्देश है, और कुछ नहीं। प्यारे का आदेश ही प्रेमी का जीवन है। आदेश-पालन में प्रीति का संचार है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं

जिन्होंने प्रेमास्पद के प्रेम को ही अपना सर्वस्व जाना है। प्रत्येक परिस्थिति में प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक कार्य द्वारा उनकी पूजा की जाय और उनसे मिलने की लालसा दृढ़ तथा स्थायी होती जाय। वे मेरे अपने हैं और मैं सदैव उनकी हूँ, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह न हो और निसन्देहता के लिए किसी युक्ति अथवा प्रमाण की भी अपेक्षा न हो, तब समझना चाहिए कि नित्य-सम्बन्ध सिद्ध होगया।

पुनः तुमको बहुत बहुत प्यार।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

... .

२६

नई दिल्ली

१४-३-५५

सभी अवस्थाओं के अतीत चिन्मयधाम विहारिणी।

तुम्हें बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

कर्म, चिन्तन तथा स्थिति के स्वरूप में, जो स्वतः हो रहा है, उसे इस अनन्त की ही महिमा जानो। अपने में अपने जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। जो कुछ है, उस अनन्त की ही विभूति-मात्र है। जिसके प्रकाश में सब कुछ प्रकाशित है एवं जिसकी सत्ता में ही सभी की सत्ता निहित है, उसी से तुम्हारी जाति तथा स्वरूप की एकता है। (जिससे तुम्हारी एकता है, उसी का होकर रहने में सफलता है)।

तुम उसी अनन्त की प्रीति हो, और कुछ नहीं। प्रीति में सत्ता प्रीतम की ही होती है और प्रीतम का निवास प्रीति में ही रहता है, पर फिर भी अनन्त मिलन तथा अनन्त वियोग नित-नव है। उनकी लुकन कितनी अनुपम है और उनका मिलन कितना सरस है, इसे तो प्रीति ही जाने। उन्हें प्रीति से कितनी प्रीति है, इसे किसी भाषा तथा भाव के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता पर बिना कहे कोई रह भी नहीं पाता। प्रीति के लिए वे स्वयं प्रेम बन जाते हैं और प्रीति में उत्पन्न हुए मद और मान को हर लेते हैं। प्रीति में प्रीतम के हो जाने का मद और उन्हीं को रस देने का मान उदय होता है। उसके हरन के लिए प्रीतम वियोग की लीला करते हैं। वे यद्यपि प्रीति में ही छिप जाते हैं, कहीं जाते नहीं। मान और मद से प्रीति का एक चिन्मय-भोग होने लगता है, जो प्रीति को अनन्त नहीं होने देता। इस विकार को हटाने के लिए ही वे मद और मान का अपहरण करते हैं। प्रीति प्रीतम से तद्रूप होकर प्रेम के लिए नित-नव आकुल रहती है। ज्यों-ज्यों आकुलता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों प्रीतम प्रेम के स्वरूप में स्वतः प्रगट होते जाते हैं, अर्थात् प्रेमास्पद प्रेमी बन जाते हैं।

जहां रहो, प्रसन्न रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार। ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

२७

नई दिल्ली
१५-३-५५

चिन्मय धाम बिहारिणी प्रीतिस्वरूपा,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

देखो दुलारी ! जिस वस्तु से अपनी ममता हट जाती है वह वस्तु अपने आप प्रेमास्पद की सेवा के योग्य बन जाती है, क्योंकि सभी निर्बलताएं तथा अपवित्रताऐं ममता की मलीनता से उत्पन्न होती हैं। देखो रानी ! अब तुम्हारा मन तुम्हारा नहीं है। अत: उसकी ओर कभी न देखो। न उसके पीछे दौड़ो और न उसको दबाओ। न उसके संकल्पों को देखो। जब तुम उसकी ओर न देखोगी तब वह विवश होकर खुद तुम्हारे प्यारे की प्रीति बन जायगा जो वास्तव में तुम्हारी वास्तविक सत्ता है—प्रीति।

तुम देह नहीं हो। अत: देह के कर्म को, धर्म को अपना कर्म, धर्म न मानो। बेचारी देह तो विश्वरूपी सागर की लहर है। उसे तो उसी की सेवा में लगी रहने दो। तुम प्यारे की प्रीति हो, देह नहीं। तुम्हारा प्रीतम तुम्हीं में छिपा है। उससे देश काल की दूरी नहीं है। तुम देह से तद्रूप होकर अपने प्यारे से विमुख हो गई हो, दूर नहीं हुई हो। प्रत्येक प्रवृत्ति से प्यारे की पूजा करो। सभी में उन्हीं की सत्ता जानो और प्रीति होकर उन्हीं को रस प्रदान करो। तुम रसमय हो। तुम्हारे प्रीतम तुमसे कभी भी दूर नहीं हैं। अब तुम कहोगी कि मैं तो उन्हें नहीं जानती, न जाने वे कहाँ छिपे हैं। वे प्रीति में ही छिपे हैं। पर जब तक केवल प्रीति ही प्रीति नहीं रह जाती, तब तक वे अन्तर्ध्यान-से रहते हैं। जब मन इन्द्रिय आदि सभी अपने भौतिक-स्वभाव को त्याग प्रीति से अभिन्न हो जायेंगे, तब वे

स्वतः प्रकट हो जायेंगे और फिर तुम अपने में ही उनको और उनमें ही अपने को पाओगी, अर्थात् प्रीति प्रीतम से और प्रीतम प्रीति से अभिन्न हो जायेंगे।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

२८

जयपुर
६-८-१९५५

देहातीत. दिव्य ज्योति, दुलारी बेटी

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। मूक सत्संग वास्तव में आदि साधन है अथवा यों कहो कि अन्तिम साधन है। कारण कि जो कुछ किया जाता है, उसके मूल में न करना ही होता है और करने के अन्त में भी न करना ही होता है। इस दृष्टि से आदि और अन्त में मूक होने पर ही सभी को सब कुछ मिलता है। मूक सत्संग सभी साधनाओं की भूमि है और फल भी। मूक सत्संग में जड़ता का दोष न आने पावे और न स्वभाव से होने वाली प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के प्रति कर्तृत्व का अभिमान सम्मिलित हो। तभी मूक सत्संग सही रूप में हो सकेगा। अनंत की अहैतुकी कृपा अनवरत योग, ज्ञान तथा प्रेम की वर्षा कर रही है—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

जो स्वतः हो रहा है, उसमें अपने प्यारे की अनुपम लीला देख-देख रस की वृद्धि स्वतः होनी चाहिए। प्रत्येक प्रवृत्ति और

निवृत्ति दायें-बायें पैर के समान लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। आस्तिक जीवन में कर्तृत्व के अभिमान के लिए कोई स्थान नहीं है—प्रत्येक दशा में उनकी अहैतुकी कृपा की अनुभूति सतत् रहनी चाहिए। उनके प्यार करने के अनेक ढंग हैं—वे सदैव प्रेमीजनों के साथ खेल किया करते हैं। हम सब उन्हीं के दिव्य चिन्मय खिलौने हैं। खिलाड़ी को अपना खिलौना अत्यन्त प्रिय होता है। इस दृष्टि से हम सब उनके प्रिय हैं—खिलौना भले ही साधारण हो, पर खिलाड़ी को रस देने में समर्थ है। खिलाड़ी अपनी सत्ता देकर ही खिलौने का महत्व बढ़ाता है। इस दृष्टि से सभी में प्रकाश उन्हीं का है।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

२६

किशनगढ़

२१-८-१९५५

सभी अवस्थाओं से अतीत, चिन्मयधाम बिहारिणी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

चित्त में दबी हुई उद्विग्नता निकल जाने दो। विश्लेषण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उद्विग्नता को सहयोग मत दो। बस, यही उसके मिटाने का उपाय है। मूक सत्संग रूपी अस्त्र चित्त के समस्त दोषों का संहार करने में समर्थ है। चित्त के व्यापार को उसी भाँति देखो जिस प्रकार होने वाली वर्षा को अथवा उदय होने वाले सूर्य को देखती हो। तुम यह

नहीं मानती हो कि मैं सूर्य के रूप में उदय हो रही हूँ या बरस रही हूँ। पर यह स्पष्ट जानती हो कि यह सब किसी और की सत्ता से हो रहा है, मैं तो केवल देख रही हूं। वह भी कब तक ? जब तक देखने की रुचि है। देखने की रुचि भी कब तक है? जब तक अन्तःदृष्टि उदय नहीं हुई। उसके उदय होने का साधन है देखे हुए से सहयोग न रखना। सहयोग न रखने की सामर्थ्य तब ही आती है जब साधक सहज भाव से अपने को उस अनन्त के सर्मापित कर देता है। समर्पित भाव है, अभ्यास नहीं। अतः एक बार हो जाने पर सदैव के लिए हो जाता है। अपने भाव पर विकल्प करना अपने हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना है।

संकल्प अपूर्ति अथवा पूर्ति अथवा निवृत्ति सब ही दृश्य की अवस्थायें हैं। अपने पर उनका प्रभाव न होने दो अर्थात् अपूर्ति का दुःख, पूर्ति का सुख एवं निवृत्ति की शान्ति का उपभोग न करो। अपितु अपने प्यारे की लीला जानकर उनमें अपने प्यारे को ही देखो और प्रीति होकर प्रियतम को रस प्रदान करो।

प्रेमी के जीवन में केवल देना ही देना है, और कुछ नहीं। प्रेमास्पद अपने ऐश्वर्य तथा माधुर्य से प्रेमी को रस प्रदान करने के योग्य स्वतः बना लेते हैं। यह उनका स्वभाव है, पर कब ? जब प्रेमी अपने में अपना कुछ नहीं पाता।

कर्तृत्व के अभिमान से रहित, जो हो रहा है उसमें हित निहित है और कर्तृत्व के अभिमान पूर्वक जो किया जा रहा है, उसमें केवल भोग है, और कुछ नहीं, जो कालान्तर में अनेक रोगों के रूप में व्यक्त होता है। अतः आस्तिक के जीवन में कर्तृत्व-अभिमान के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

मूक सत्संग द्वारा नित्य मिलन है। अतः अब वियोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरीर की समीपता वास्तविक मिलन नहीं है, उसके लिए सोचना कुछ अर्थ नहीं रखता।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो कुछ हो रहा है उससे लेश-मात्र भी भय न करो और न उससे सुख लो। समस्त निर्बलतायें तथा भय सुख-भोग में निवास करती हैं। तुम्हारे प्रेमास्पद भयहारी हैं, आनन्दघन है, तो फिर बताओ, सुख-भोग तथा भय के लिए तुम्हारे पवित्र जीवन में स्थान ही कहाँ है? तुम सदैव उनकी हो और वे तुम्हारे हैं, तुम्हारे और उनके बीच में प्रेम का ही आदान प्रदान है।

प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

३०

देहरादून
३-७-५५

स्नेहमयी, सभी अवस्थाओं से अतीत, दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई—हृदय एकमात्र प्रेमास्पद का मन्दिर है। उसमें और कोई कचरा नहीं रहना चाहिये। तुम अपने को हारा हुआ सिपाही मत मानो, अपितु सब प्रकार के चिन्तन तथा भय से रहित समर्पण-भाव की साधक जानो, अथवा यों कहो कि उस अनन्त का अपने को खिलौना जानो।

जो कुछ स्वतः हो रहा है, उसे देख-देख कर उनकी महिमा का दर्शन करो और उनकी अनुपम रचना तथा कारीगरी पर मुग्ध होती रहो—वे स्वयं ही अनेक रूपों में प्रकट हुए है। तुम उन्हें पहचान लिया करो। तुम्हारी प्रसन्नता के लिए ही वे नाना वेश धारण कर तुम्हारे सामने आते हैं। तुम्हें वीतराग बनाने के लिए वे भयंकर दुःख का वेश धारण करते हैं। तुम्हें योगी बनाने के लिए ही उन्होंने तुमको क्षण-भंगुर भोगों से बचाया है—तुम उनकी नित-नव प्रीति हो। देह का वेष धारण कर विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए कर्त्तव्य-परायणता का खेल करती रहो। तुम्हारे अनौखे खेल को देखकर उन्हें प्रसन्नता होगी। ज्यों-ज्यों राग की निवृत्ति होती जायगी, त्यों-त्यों अनुराग की वृद्धि स्वतः होती जायगी। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अंधकार की निवृत्ति युगपद है, उसी प्रकार राग की निवृत्ति और अनुराग का उदय, युगपद है। राग वैराग्य-रहित होने पर ही अनुराग की पुष्टि होती है। वैराग्य भोग को योग में परिवर्तित कर चिरशान्ति प्रदान करने में समर्थ है, पर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाना दुःख निवृत्ति का हेतु भले ही हो, पर प्रीति की जागृति नहीं है। इस दृष्टि से प्रेमीजन चिर-शान्ति में ही सन्तुष्ट नहीं होते और न अशांति को आने देते हैं। अशांति से रहित शान्ति से अतीत में ही प्रेमियों का जीवन है। जिस प्रकार शान्ति अशान्ति को खाकर नष्ट होती है, उसी प्रकार प्रीति शान्ति का उल्लंघन करके सबल तथा स्थायी होती है। शान्ति अखण्ड तथा अविनाशी है। प्रीति अखण्ड तथा अनन्त है। शान्ति अशान्ति की निवृत्ति का परिणाम है, पर प्रीति प्रेमास्पद के नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति का फल है। एक बार की की हुई स्वीकृति सदा के लिए अमिट हो जाती है। प्रेमास्पद से भिन्न

की अस्वीकृति स्वीकृति की भूमि है। प्रेमास्पद से भिन्न की अस्वीकृति के लिए विवेक अपेक्षित है और प्रेमास्पद से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने के लिए विश्वास हेतु है। विवेक दृश्य के स्वरूप का दर्शन कराने में समर्थ है और विश्वास दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद कराने में समर्थ है। दृश्य के स्वरूप के ज्ञान में दृश्य की निवृत्ति निहित है। और दृश्य के सम्बन्ध-विच्छेद में प्रेमास्पद के नित्य-सम्बन्ध की दृढ़ता निहित है। दृश्य की निवृत्ति में तत्वज्ञान और दृश्य के सम्बन्ध-विच्छेद में परम प्रेम का उदय स्वाभाविक है। ज्यों-ज्यों प्रेमास्पद से अत्यन्त आत्मीयता होती जाती है, त्यों-त्यों दिव्य चिन्मय प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। बस, यही प्रेमी का अन्तिम पुरुषार्थ है।

पुनः तुमको बहुत बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

३१

उदयपुर
७-७-५५

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की दिव्य चिन्मय प्रीति हो। तुमने सदैव उन्हें रस प्रदान किया है। तुम्हारा और उनका नित्य-सम्बन्ध है। मिलन और विरह दोनों ही दशाओं में तुम उन्हें और वे तुम्हें रस प्रदान करते

हैं। यह तुम्हारी अनुपम लीला है अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का स्वभाव ही तुम्हारा अस्तित्व है।

प्रीति कभी भी प्रीतम से दूर नहीं है, परन्तु मिलन में भी नित-नव वियोग है। कारण कि, अनन्त की प्रीति भी अनन्त है। प्रीति में ही प्रीतम का निवास है और प्रीति ही प्रीतम का जीवन है। इन दोनों की लीला अनिर्वचनीय है। प्रीति जैसा-जैसा रूप धारण करती है, प्रीतम वैसी-वैसी लीला करते हैं। प्रीतम सदैव प्रीति की ओर और प्रीति सदैव प्रीतम की ओर गतिशील रहती है। यद्यपि इनमें किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नही है परन्तु नित-नव रस की वृद्धि के लिए आज तक एक दूसरे का मिलन ही न हो सका, यह विलक्षणता प्रेम के साम्राज्य में है।

सत्-असत्, समस्त विश्व प्रीति और प्रीतम का ही चमत्कार है। तभी तो प्रत्येक वस्तु किसी की ओर दौड़ रही है, अथवा यों कहो कि अपना वेश बदलकर अपने प्यारे को लाड़ लड़ा रही है। जिस प्रकार सभी नदियां समुद्र की ओर गतिशील हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व उस अनन्त की ओर गतिशील है, पर यह अनुभव उन्हीं को होता है जिनकी विवेक-दृष्टि प्रीति में विलीन होकर प्रीति हो गई है, अर्थात् प्रीति निर्मित दृष्टि से ही सर्वत्र, सर्वदा प्रीतम का ही दर्शन होता है। जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़े, वहीं-वहीं प्रियतम फुरें।

जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द!

तुम्हारा

....

३२

मुरादाबाद
१२-७-५५

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। यह जानकर कि सर्व-हितकारी सम्पत्ति, जो देह के स्वरूप में प्राप्त है, अभी अस्तव्यस्त ही चल रही है, अच्छा नहीं लगा, पर तुमने ठीक ही लिखा है जैसी प्यारे की मौज। उनकी मौज में प्रेमियों का हित ही निहित रहता है। वे अपनी अहैतुकी कृपा-शक्ति से उन सभी वस्तुओं को अपनी सेवा के योग्य बना लेते हैं जो सद्भाव पूर्वक उनकी हो जाती हैं। जिसने अपने में अपना कुछ नहीं रखा, उसने सब कुछ कर लिया, जो उनकी प्रीति हो गया, वह सब कुछ हो गया। जिन्होंने उनसे भिन्न की सत्ता को स्वीकार ही नहीं किया उन्होंने सब कुछ जान लिया। जिनका चित्त करुणा तथा प्रसन्नता से भरपूर है उन्हें फिर और कुछ करना शेष नहीं है। पर यह तभी सम्भव होगा जब अनेक प्रकार की भिन्नताओं में स्नेह की एकता स्वीकार कर ली जाय। स्नेह की एकता स्वीकार करने के लिए वैरभाव से रहित होना अनिवार्य है। कारण कि, निर्वैरता की भूमि में ही स्नेह की एकतारूपी लता पनपती है।

जिस प्रकार लिखते समय लेखनी को ग्रहण कर लिया और लिखना समाप्त होते ही उसे यथास्थान रख दिया जाता है, उसी प्रकार कार्य करते समय शरीर को ग्रहण कर लिया करो और कार्य का अन्त होते ही जहाँ का तहाँ, ज्यों का त्यों सुरक्षित रख दिया करो। ऐसा करने से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज-

योग स्वतः हो जावेगा जो आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। बाह्य आक्रमणों का प्रभाव अपने पर मत होने दो। प्रत्येक परिस्थिति में अपने प्यारे की अनुपम कृपा का अनुभव करो और उन्हीं की प्रीति होकर रहो।

तुम चिन्मय लोक की निवासिनी हो, भौतिक देह से तुम्हारी जातीय भिन्नता है, अर्थात् तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। देह तो विश्व की विभूति है। उसे विश्व की भेंट करना है। जब तुम अपने को देह के वेश में छिपा लेती हो, तब तुम्हारे प्रियतम विश्व का वेश धारण कर तुम्हें अनेक प्रकार से लाड़ लड़ाते है। तुम उन्हें प्रत्येक वेश में पहचान लिया करो।

पर यह तभी सम्भव होगा, जब तुम अपने को देह से अलग अनुभव करोगी। अपने को देह से अलग अनुभव करने के लिए श्रम-रहित अन्तःदृष्टि अपेक्षित है। अन्तःदृष्टि से ही प्रीति की दृष्टि उदय होती है जो सर्वत्र-सर्वदा प्रीतम का ही दर्शन कराती है। प्रीति की दृष्टि ही वास्तविक दृष्टि है, प्रीति में ही नित-नव-मिलन तथा नित नव वियोग है, अथवा यों कहो कि मिलन में वियोग और वियोग में ही मिलन है। कारण कि, अनन्त की प्रीति भी अनन्त है। सेवक के जीवन में अपने दुःख के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि उसका हृदय तो सर्वदा पराये दुःख से करुणित रहता है, अथवा सुखियों को देखकर प्रसन्न रहता है। अपने दुःख से दुःखी होना तो पशुता है, मानवता नहीं। आशा है कि अब तुम दुःखी न होगी और सेवा करते हुए समय व्यतीत करोगी।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

३३

नई दिल्ली

१४-७-५५

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

मन की निर्मलता चित्त की प्रसन्नता हृदय की निर्भयता स्वास्थ्य के लिए अचूक औषधि है।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

... ...

३४

नई दिल्ली

१९-७-५५

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ता० १५ का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। यह जानकर कि विश्वहितैषी सदाचार का प्रतीक तुम्हारा शरीर अभी अस्वस्थ ही चल रहा है खेद हुआ। पर कोई बात नहीं। रोग भी प्राकृतिक तप है, और कुछ नहीं। रोग का वास्तविक मूल तो किसी-न-किसी प्रकार का राग ही है, क्योंकि राग-रहित करने के लिए ही रोग के स्वरूप में अपने प्यारे प्रभु प्रीतम का ही मिलन होता है। हम प्रमादवश उन्हें पहचान नहीं पाते और रोग से भयभीत होकर उससे छुटकारा

पाने के लिए आतुर तथा व्याकुल हो जाते हैं, जो वास्तव में देहाभिमान का परिचय है, और कुछ नहीं।

मूक सत्संग प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में, सहज भाव से होना चाहिए। उनकी सर्व-समर्थ अहैतुकी कृपा सर्वत्र सर्वदा अंग-संग है। उसका आश्रय ही आस्तिक का महान बल है। अचाह रूपी भूमि में ही मूक सत्संग रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और सम्बन्ध-विच्छेद रूपी जल से ही उसे सींचा जाता है। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग ही उस वृक्ष की रक्षा करने वाली बाड़ है। उनकी मधुर स्मृति उस वृक्ष का बौर है और अमरत्व ही उस वृक्ष का फल है जिसमें प्रेम रूपी रस भरपूर है। प्रेम रस से भरपूर अमर-फल पाकर ही प्राणी कृतकृत्य होता है। उसी के लिए वर्तमान जीवन मिला है। प्रत्येक दशा में सत्य का संग और असत्य का त्याग करना अनिवार्य है। जाने हुए असत्य के त्याग में ही सत्य का संग निहित है।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द !

●

तुम्हारा

....

३५

नई दिल्ली
२१-७-१९५५

देहातीत दिब्य ज्योति स्नेहमूर्ति,
सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

शरीर के सम्बन्ध में कुछ भी चिन्ता नहीं करना है। चाहे जैसा रहे, केवल उसके प्रति सेवा का भाव रखना है। वह भी इस कारण कि वह प्यारे की वस्तु है। जो वस्तु उनकी हो जाती है उसमें उनके काम आने की योग्यता आ जाती है। और जिस वस्तु के प्रति अपनी ममता रहती है, उसमें अनेक दोष आ जाते हैं। ममता करने योग्य तो केवल वे ही हैं। अत्यन्त गाढ़ आत्मीयता का भाव ही प्रीति का संचार करने में समर्थ है। उसे सर्वदा सुरक्षित रखो। बस, यही तुम्हारा परम पुरुषार्थ है। आत्मीयता में ही प्रियता निहित है। आत्मीयता ही महामन्त्र है। आत्मीयता ही परम आश्रय है। आत्मीयता उदय होते ही जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है।

ओ३म् आनन्द, आनन्द, आनन्द ! ●

तुम्हारा
....

३६

आगरा
२९-७-५५

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

ता० २४ का लिखा हुआ पत्र कल मिला। सभी रोगों का मूल एकमात्र राग है । राग-रहित होते ही मन में निर्मलता आ जाती है और फिर मन अमन होकर शान्ति में निवास करने लगता है, जो समस्त शक्तियों का केन्द्र है। जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना है, उसकी समस्त चेष्टाएं प्रेमास्पद की पूजा है। पूजा प्रेम की जाग्रति में हेतु है। प्रेम स्वभाव से ही दिव्य तथा चिन्मय तत्व है। प्रेम ही प्रेमी का वास्तविक अस्तित्व है। इस दृष्टि से प्रेमी स्वरूप से दिव्य तथा चिन्मय है। तुम कभी भी देह नहीं हो। कर्म चिन्तन तथा स्थिति तुम्हारे खेलने के क्षेत्र हैं। अब सभी क्षेत्रों को प्रीति के रंग से रंग दो, अर्थात् प्रत्येक अवस्था का, प्रीति से निर्मित होकर सदुपयोग करो। अचाहरूपी भूमि में ही प्रीतिरूपी बेल उपजती है। कारण कि, जो कुछ भी चाहता है उसमें प्रीति उदय नहीं हो सकती।

अपने में से देह-भाव का अभाव हो जाने पर सब प्रकार की चाह का अन्त स्वतः हो जाता है। निज विवेक का उपयोग करने पर देह-भाव का त्याग स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से निज विवेक के आदर में ही समस्त दिव्य गुण निहित हैं।

सेवा भाव है, कर्म नहीं। सेवक की प्रत्येक प्रवृत्ति स्वभाव से ही निष्काम होती है। उसे सेवा के बदले में कुछ नहीं चाहिए। चाहे जैसी परिस्थिति हो, सेवक को सर्वदा शान्त

तथा प्रसन्न रहना चाहिए। सेवक का हृदय करुणा तथा स्नेह से भरा रहता है। उसमें खिन्नता तथा आसक्ति शेष नहीं रहती। तभी तो सेवक के हृदय में अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य-सम्पन्न प्रभु निवास करते हैं।

प्रसन्नता तथा शान्ति के स्वरूप में जो कुछ प्राप्त हो, उसका उपभोग न किया जाय, वह छलकने न पाये, ज्यों की त्यों सुरक्षित रहे। वह तभी सम्भव होगा जब उसकी भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे और नित-नव उत्साह का संचार होता रहे। उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही अपना आश्रय बन जाय। सब प्रकार की चिन्ताएँ, भय, शोक सदा के लिए विदा हो जायँ। मिलन और विरह की वेदना अपने आप होती रहे, अनेक वेषों में उनको पहिचान लिया जाय, सभी प्रवृतियों द्वारा उनकी पूजा की जाय। उनको रस देने में ही अपना हित है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

३७

कोटा

३०-८-५५

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

लक्ष्य तथा प्रीति की एकता दृढ़ होने पर देश-काल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती । तुम कभी देह नहीं हो, अपितु दिव्य चिन्मय प्रीति हो । अपने को देह मान कर ही दूरी तथा भेद अनुभव करती हो, जो वास्तविक नहीं है । प्रीति और प्रीतम का नित-नव मिलन तथा नित-नव विरह है । प्रीति प्रीतम में और प्रीतम प्रीति में ही निवास करते हैं, पर फिर भी मिलन की उत्कण्ठा सदैव बढ़ती ही रहती है । यही प्रीति और प्रीतम की नित-नव लीला है ।

निःसन्देह प्रीति किसी भाषा तथा भाव के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती और न बिना कुछ कहे रहा ही जाता है । यह प्रीति की विलक्षणता है । दिव्य चिन्मय प्रीति की जागृति सभी अवस्थाओं से अतीत होने पर स्वतः होती है ।

व्यक्तित्व का मोह अवस्थाओं में आबद्ध कर दीन तथा अभिमानी बना देता है, जो वास्तव में प्रमाद है ।

नित्य सम्बन्ध तथा जातीय एकता एवं आत्मीयता स्वतः सभी अवस्थाओं से अतीत करने में समर्थ है । माने हुए सम्बन्धों की अस्वीकृति ही नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति है, अर्थात् सम्बन्ध-विच्छेद ही नित्य सम्बन्ध का मुख्य प्रयास है । सम्बन्ध-विच्छेद

करने में निज विवेक का उपयोग ही मुख्य साधन है, जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त है।

मूक सत्संग का आश्रय ही निर्बल का बल तथा सफलता की कुंजी है; कारण कि मूक सत्संग कर्तृत्व के अभिमान को खा लेता है और अप्रयत्न तथा अभिन्नता प्रदान करता है, अथवा यों कहो कि मूक सत्संग में सभी साधनों का समावेश है।

तुम प्रति सप्ताह एक पत्र लिख दिया करो और होने वाली अनुभूतियों को अपने पास लिखकर रख लिया करो। मिलने पर सुना देना।

शरीर की यथावत् देखभाल तथा उसका सदुपयोग करती रहो। उससे ममता तो है ही नहीं, पर उसकी सेवा अवश्य करनी है। पुनः तुमको बहुत बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

३८

उदयपुर

१३-६-५५

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ता० ८ का लिखा हुआ पत्र मिला। पूर्व पत्र का उत्तर लिख दिया था, मिला होगा। जिस प्रकार गीली मिट्टी सूख जाने पर अपने आप झड़ जाती है, उसी प्रकार राग-रहित होने से परिस्थिति स्वतः बदल जाती है। नौकरी करना है अथवा नहीं करना है, ये दोनों बातें कुछ अर्थ नहीं रखतीं। तुम जिनकी हो, वे जो चाहेंगे करायेंगे। तुम्हें तो केवल वर्तमान कार्य को उन्हीं के नाते सुन्दरतापूर्वक कर डालना है। करने की अपेक्षा न करने में सर्वदा स्वाधीन हो। इस समय, विधान के अनुसार नौकरी की शर्त मान लो। न करने के लिए तो सर्वदा स्वाधीन हो।

प्रीति का उदय किसी परिस्थिति में आबद्ध नहीं है। उसके लिए तो सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। कर्तृत्व की रुचि न रहना ही वास्तव में न करना है। कर्तृत्व के अभिमान से रहित होने पर भी चेष्टाएँ हो सकती हैं और कम से कम चेष्टाओं में भी कर्तृत्व का अभिमान रह सकता है। यदि कोई हिमालय की कन्दरा में चला जाय और त्याग का अभिमान बना रहे, तो उस परिस्थिति में भी कर्तृत्व का अभिमान हो सकता है। राग-रहित होने पर त्याग का अभिमान स्वतः

गल जाता है। त्याग का अभिमान गलते ही समस्त जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है। तुम उस अनन्त की विभूति हो अथवा उनकी खिलौना हो। वे अनेक परिस्थितियों के द्वारा जैसा खेल चाहेंगे, खेलेंगे। तुम्हारी दृष्टि सदैव उन्हीं पर रहनी चाहिये। किसी और की सत्ता ही कहाँ है? तुम सर्वदा उनकी हो और वे तुम्हारे हैं। तुम कभी भी उनसे विमुख नहीं हो, तो फिर देना-लेना, करना न करना कुछ अर्थ नहीं रखता। भला, प्रीति ने भी कभी प्रीतम से भिन्न को देखा है? कभी नहीं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों तुम्हारे विहार के क्षेत्र हैं। तुम्हारा निज धाम तो दोनों से अतीत है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो, और प्रत्येक प्रवृत्ति से अपने प्यारे को लाड़ लड़ाती रहो तथा प्रवृत्ति के अन्त में दिव्य चिन्मय प्रीति होकर अभिन्न हो जावो और प्रवृत्ति-काल में उनकी दिव्य लीला में भाग लो। तुम्हारे अभिनय को देख तुम्हारे प्यारे प्रसन्न होंगे और उनकी लीला को देख तुम्हें प्रसन्न रहना चाहिए।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

३९

जोधपुर
२१-९-५५

सभी अवस्थाओं से अतीत,
प्रीति स्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,
सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ता० १६-९-५५ का लिखा हुआ पत्र श्रीनाथद्वारा में ही मिल गया था। तुम देह नही हो, अपितु दिव्य चिन्मय प्रीति हो। तुम्हारी प्रत्येक चेष्टा प्रीति-निर्मित धातु से होती है, अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति प्रीति का प्रतीक-मात्र है, और कुछ नहीं।

मूक सत्संग में आलस्य तथा श्रम दोनों का अभाव है। इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि की चेष्टाओं से पूर्ण असंगता तथा असहयोग है। ज्यों-ज्यों असहयोग सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों अनावश्यक मानसिक चेष्टाएं स्वतः मिटती जाती हैं और इन्द्रियों की चेष्टाओं का अर्थ निरर्थक हो जाता है, अर्थात् उनका प्रभाव मन पर अंकित नही होता, अथवा यों कहो कि जो प्रभाव अंकित था वह मिट जाता है और नवीन प्रभाव अंकित नहीं होता। भुक्त-अभुक्त संकल्पों का प्रभाव ही मानसिक चित्र बनाता है। वह प्रभाव प्रीति की जागृति तथा समर्पण भाव से मिट जाता है, जिसके मिटते ही प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। प्रीति की सबलता सब प्रकार के प्रभावों को खा लेती है। मूक सत्संग कर्तृत्व के अभिमान को गलाकर श्रम से रहित करता है और व्यर्थ चिन्तन को खाकर आलस्य से मुक्त कर देता है।

वर्तमान कार्य सुन्दरतापूर्वक हो जाने से कार्य का राग स्वतः मिट जाता है। आस्तिक जीवन में करने की रुचि का

एवं कर्म-फल की आशा का कोई स्थान ही नहीं है। प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्यारे को रस देना है। यही प्रेमी का वास्तविक प्रयास है।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

....

४०

वृन्दावन

२१-११-५५

सभी अवस्थाओं से अतीत, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्रिय की पूजा और प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः प्रिय की स्मृति होनी चाहिए। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही के द्वारा दिव्य चिन्मय प्रीति जागृत करना है, जो तुम्हारा स्वरूप है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की प्रीति हो। तुम्हें सर्वदा अपने से परिचित रहना चाहिए। अपने को भूलना ही वास्तव में भूलना है और अपना परिचय ही वास्तविक परिचय है। प्रत्येक दशा में अपने प्रेमास्पद की अनुपम, अनिर्वचनीय, अहैतुकी कृपा का अनुभव करो। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। उनकी लीला का अनुभव प्रत्येक घटना में करने का स्वभाव बना लो, जिससे प्रीति जागृत बनी रहे।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

४१

श्रीवृन्दावन
२९-११-५५

निर्विकल्पता से अतीत, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। बड़े हर्ष की बात है कि तुम प्रत्येक प्रवृत्ति को अन्तिम प्रवृत्ति जानकर साधन-बुद्धि से अभिनय के स्वरूप में करती हुई अपने परम प्रेमास्पद को रस प्रदान करती हो। इसी में जीवन की सार्थकता निहित है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। उस अनन्त की अनुपम लीला में जो अभिनय मिला है, उसे उन्हीं की पूजा जानो। वे तुम्हारे और तुम सदैव उनकी हो, यह मधुर स्मृति सतत् जागृत रहे। प्रत्येक दशा में सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न ही रहना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा जब तुम कामना-रहित होकर प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो।

विचार-विनिमय द्वारा मन की निर्मलता सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से विचार-विनिमय साधक के लिए दैनिक भोजन है। पारस्परिक विचार-विनिमय निज विवेक का आदर कराने में तथा स्नेह की एकता सुरक्षित रखने में समर्थ है। जब साधक के जीवन से समस्त वस्तुओं की ममता तथा उनका महत्व निकल जाता है, तब शरीरादि प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग स्वतः होने लगता है और अप्राप्त वस्तुओं की चाह सदा के लिए मिट जाती है जिसके मिटते ही निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वतः जागृत होते है। निर्लोभता आते ही, दरिद्रता और निर्मोहता

आते ही अविवेक सदा के लिए मिट जाता है। दरिद्रता के अन्त में उदारता और अविवेक के मिटने पर वास्तविकता का बोध स्वतः सिद्ध है। उदारता उत्कण्ठा तथा उत्साह को उत्तरोत्तर वृद्धि करती है और वास्तविकता का बोध अमरत्व प्रदान करता है।

मूक सत्संग में सब प्रकार के श्रम तथा आलस्य का अन्त है। श्रम के अन्त में विश्राम और आलस्य-रहित होने में सजगता विद्यमान है। थकावट दूर करने के लिए बेहोशी स्वाभाविक है, पर बेहोशी का होश सजगता का प्रतीक है। चित्त की जड़ता में लय होना दोष है, पर चिन्मय-जीवन में प्रवेश हो जाना निर्दोषता है। चित्त को जड़ता में लय नहीं होना चाहिए, अपितु चेतना में विलीन होना चाहिए, जो अचाह तथा अप्रयत्न होने से ही हो सकता है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

४२

आगरा
१-१२-५५

निर्विकल्पा से अतीत, दिव्य चिन्मय प्रीति, स्नेहमयी दुलारी बेटी,
सदैव शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

ता० २८ नवम्बर का लिखा हुआ पत्र कल मिला । इससे पूर्व तुम्हारे दो पत्र और मिले थे, जिनका उत्तर भी दे दिया था, मिला होगा ।

सन्देह की वेदना सभी में विद्यमान है । ऊपरी भिन्न-भिन्न प्रकार की रुचियों ने उसे ढक-सा दिया है । कोई भी मानव जिज्ञासा-शून्य नहीं है । तुम्हारे समीप बैठने से ही जब प्रिय-जनों को स्वत: रस मिलने लगेगा तब उनमें स्वत: जिज्ञासा जागृत होगी । तुम्हें तो सभी परिस्थितियों में अपने प्रिय की भिन्न प्रकार से पूजा करनी है । पुजारी को तो, जिसकी पूजा करनी है, उसी को रस देना है । ऊपर से मर्यादानुसार कर्म हो और भीतर से केवल प्रीति हो । कर्म से करने के राग की निवृत्ति होगी और प्रीति से प्रीतम को रस मिलेगा, जो प्रेमी का जीवन है ।

शुद्ध संकल्प की दृढ़ता परिस्थितियों को बदलती है और निष्कामता शुद्ध संकल्पों की पूर्ति की सामर्थ्य प्रदान करती है । तुम्हें प्रत्येक दशा में अपनी रुचिकर साधना को सुचारु रूप से सुरक्षित रखना है । बस, यही सफलता की कुंजी है । पुन: तुम्हें बहुत-बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा
....

४३

लखनऊ
९-१२-५५

दिव्य ज्योति, चिन्मय-धाम-निवासिनी, स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

किसी के आग्रह में भी बीज रूप से अपनी ही रुचि विद्यमान रहती है। भोजन की रुचि ने सभी को रोगी बनाया है, यद्यपि भोजन परिवर्तनशील जीवन का मुख्य अंग है, परन्तु उसकी रुचि अनेक रोग भी उत्पन्न करती है। असंगता सुरक्षित बनी रहे और भूख और भोजन का मिलन सहज भाव से होता रहे, तो बड़ी ही सुगमता-पूर्वक बहुत से रोग मिट जाते हैं। रोग राग का परिणाम है, और कुछ नहीं–चाहे वर्तमान राग हो या पूर्व कृत।

●

४४

गौंडा
१६-१२-५५

प्रीति-स्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ता० १३ का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। संयोग-वियोग परिवर्तनशील जीवन का सौन्दर्य है, और कुछ नहीं। प्रीति की वृद्धि के लिए मिलन और वियोग

दोनों अनिवार्य हैं। इसी कारण विधान में मिलन और वियोग है। तुम स्वरूप से तो अनन्त की प्रीति ही हो। देह आदि वस्त्रों को पहन कर अपने को व्यक्ति मान बैठी हो। इस व्यक्तित्व को गलाने के लिए ही विरहाग्नि का प्रज्वलित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए ही मिलन की आशा में वियोग का दर्शन होता है और जब विरहाग्नि प्रज्वलित हो जाती है तब वियोग मिलन में बदल जाता है। वियोग और मिलन दोनों ही प्रीति के प्रतीक है, और कुछ नहीं।

प्रत्येक प्रवृत्ति विद्यमान राग की निवृत्ति और अनुराग के उदय का हेतु है। पर कब ? जब प्रवृत्ति के मूल में प्रिय का नाता हो। उत्पन्न तथा विलीन होने वाली प्रवृत्ति का प्रकाशक उत्पत्ति-विनाश-रहित है। उसी से नित्य-योग हो सकता है, परन्तु उत्पत्ति-विनाश की लीला नित्य-योग में प्रतिबन्ध जैसी प्रतीत होने लगती है, यद्यपि ऐसा है नही। कारण कि राग-निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति प्राप्त हुई है और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, उसके लिए निवृत्ति अनिवार्य है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही राग-निवृत्ति और प्रीति की जागृति की साधन है। साधक को प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का ही आदर करना है, पर उनमें से किसी का अभिमान न हो, इस बात का सदैव ध्यान रखना है। अभिमान तभी उत्पन्न होता है जब प्रवृत्ति तथा निवृत्ति द्वारा सुख का भोग किया जाय, क्योंकि सुख-भोग की रुचि ही अभिमान को जन्म देती है, जिसका प्रेमी के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, (यहाँ तक कि) निरभिमानता का अभिमान भी न रहने पाये। तभी प्रीति नित-नव हो सकती है। प्रीति ने कभी भी प्रीतम को देख नहीं पाया, कारण कि प्रीति की दृष्टि

प्रीतम में नित-नवता का दर्शन करती है। यद्यपि प्रीति में सदैव प्रीतम का निवास है, परन्तु प्रीति में प्रिय-दर्शन की जो प्यास है, वह कभी बुझती नहीं है, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। यह प्रीति का स्वभाव ही है। तो फिर मिलन और वियोग में भेद ही क्या है? दोनों ही समान अर्थ रखते हैं। पर यह रहस्य वे ही जानते हैं जो सब प्रकार से अभिमान से रहित, प्रीति से अभिन्न हो गये हैं। ●

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

४५

गाजीपुर
५-१-५६

देहातीत स्नेहमयी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ता० २-१-५६ का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की दिव्य प्रीति हो। वर्तमान कार्य के द्वारा अपने प्रेमास्पद की पूजा करो और कार्य के अन्त में उन्हीं की मधुर स्मृति होकर उन्हें लाड़ लड़ाओ। अवस्था-भेद होने पर भी लक्ष्य-भेद न होने दो। प्रीति ही उन्हें रस प्रदान करती है। प्रीति की प्रतिक्रिया भी प्रीति ही है, क्योंकि प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का

ही आदान-प्रदान है, और कुछ नहीं। प्रेम स्वभाव से ही नित-नव है। उसमें कभी क्षति नहीं आती, अपितु उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। वियोग और मिलन दोनों ही प्रेम को जागृत करते हैं। प्रेम श्रम-रहित साधन है, क्योंकि कर्तृत्व का अभिमान प्रेम का उदय नहीं होने देता। प्रत्येक परिस्थिति में प्रेमास्पद की अनिर्वचनीय, अनुपम, अहैतुकी कृपा सदैव तुम्हारे साथ है। कारण कि तुम उनकी नित्य-प्रीति हो। प्रत्येक कार्य में नित-नव उत्साह तथा उत्कण्ठा बढती रहे, क्योंकि यही तो उनकी वास्तविक पूजा है। तुम उन्हें भले ही पहचान न सको, पर वे सदैव तुम्हारी ओर देखते रहते हैं। अतः तुम भी सदैव उनकी ओर ही देखती रहो। भिन्न-भिन्न वेशों में पहचानने का स्वभाव बना लो। प्रत्येक वस्तु उन्हीं की है। इतना ही नहीं, प्रत्येक वस्तु मे वे ही विद्यमान है, कारण कि सब कुछ उन्हीं की अभिव्यक्ति है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

... .

४६

बलिया

७-१-५६

प्रीति-स्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

मूक सत्संग प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः होना चाहिए। अचाह तथा अप्रयत्न ही मूक सत्संग की भूमि है। शरीर तथा

मन पर लेशमात्र भी जोर मत डालो। मूक सत्संग से तो स्वतः छिपी हुई शक्ति का विकास होता है। बल का सदुपयोग होने पर जो स्वाभाविक विश्राम है वह भी मूक सत्संग है और अपने आपको अनन्त की अहैतुकी कृपा पर निर्भर कर देना भी मूक सत्संग है और सब ओर से विमुख होकर अपने में ही संतुष्ट हो जाना भी मूक सत्संग है। मूक सत्संग से जिससे अभिन्नता होती है वह देश-काल आदि की दूरी से रहित है। तुम जिसकी प्रीति हो, वह नित्य प्राप्त है। इस दृष्टि से तुम सर्वदा उसके साथ हो और वह तुमसे सदैव अभिन्न हैं।

अब रही वैज्ञानिक दृष्टि, जिससे निश्चित समय पर मूक सत्संग करने की योजना है—प्रातः ३-३० बजे से लेकर ५ बजे तक का समय बहुत ही उपयुक्त है। अतः इस डेढ़ घण्टे के बीच में यदि सहज भाव से मूक सत्संग होता रहे, तो तुम्हें कोई असुविधा न होगी। वास्तव में तो प्रत्येक प्रवृत्ति का उदय और अन्त मूक सत्संग में ही होना चाहिए। मूक सत्संग अखण्ड साधन है, यह कोई अभ्यास नहीं है, अपितु सब प्रकार से उस अनन्त का हो जाना है जो सभी में है, सभी से अतीत है, जिससे देश, काल आदि की दूरी ही नहीं है। तुम उन्हीं की दिव्य चिन्मय प्रीति हो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

४७

मोतीहारी
२१-१-५६

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

जो देश तथा समाज एवं व्यक्ति विधान की पराधीनता स्वीकार नहीं करता वह अनेक बाह्य पराधीनताओं तथा मोह में आबद्ध हो जाता है। प्रान्तवाद का अन्त बिना किये हुए कभी भी परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है। स्नेह की एकता के बिना समाज में शान्ति की स्थापना सम्भव न होगी। कोई हमें अपना माने या न माने, पर हम सभी को अपना जानें। इस सद्भावना का संचार जब तक जीवन में न होगा, हम संयोग-वियोग की व्यथा से बचेंगे नहीं। तुम मानव हो, तुम्हारे हृदय में सभी के प्रति सद्भावना रहनी चाहिए। यद्यपि मेरा मतलब यह नहीं है कि जिस आधार पर प्रान्तों का विभाजन हो रहा है, इस आधार से तो प्रान्तवाद और दृढ़ होगा। बोल-चाल, रहन-सहन, आने-जाने की सुविधा-असुविधा के नाम पर हम एक साथ नहीं रह सकते, यह बड़ी ही अमानवता है। इस अमानवता का अन्त तभी होगा जब मानव में मानवता का संचार हो। स्वर्गीय जिन्ना महोदय की घातक नीति आज मानव-समाज ने किस प्रियता के साथ अपनाई है! जिस नीति के कारण लाखों घर उजड़े गये, और भारत माता के हृदय के

टुकड़े हो गये। अधिकार-लालसा और भेदभाव की भावना ने मानव में मानवता नहीं रहने दी। इस पिशाचिनी का सदा के लिए अन्त करना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

४८

इलाहाबाद
१३-२-५६

देहातीत, प्रीति-स्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुम्हारे दोनों पत्र आज मिल गये। प्रत्येक परिस्थिति उसी अनन्त की अभिव्यक्ति है। इस कारण प्रत्येक कार्य उन्हीं की पूजा है। सत्ता रूप से उन्हें पहचान लेने पर प्रत्येक कार्य प्रीति की जागृति का साधन बन जाता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जो कर्तृत्व की आसक्ति तथा फल की आशा से रहित होकर कार्य करने लगते हैं। कर्तृत्व का बोझा अपने ऊपर से सदा के लिए उतार दो और फल की आशा से रहित हो जाओ। ऐसा होते ही प्रत्येक कार्य प्रीति की जागृति में हेतु हो जायेगा। जो कुछ हो रहा है, उसमें उस अनन्त की लीला का अनुभव करो और जो कुछ कर रही हो, उसे उनकी पूजा जानो।

पूजा का भाव प्रियता को सबल तथा पुष्ट बनाता है। कर्म का भाव शिथिलता तथा थकावट उत्पन्न करता है और फल की आशा में आवद्ध कर देता है। पूजा का भाव नित-नव उत्कण्ठा तथा उत्साह प्रदान कर प्रीति से अभिन्न कर देता है। कर्म और पूजा का भेद जान लेने पर कर्म से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है और फिर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में चिर शान्ति स्वतः प्राप्त होती है, जो आवश्यक शक्ति प्रदान करने में समर्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

४८

राजकोट

२३-२-५६

साधनमयी दिव्य ज्योति लाली........,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ता० २० का लिखा हुआ पत्र मिला। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है। उसके सदुपयोग में ही प्रेमास्पद की प्रसन्नता निहित है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही आने वाली निवृत्ति को यदि अपना लिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः हो जाता है और फिर जो करना चाहिए, वह अपने आप होने लगता है। और फिर समस्त जीवन साधन हो जाता है। निवृत्ति-काल में प्रवृत्ति का चिन्तन साधन में विघ्न है। निवृत्ति शक्ति-संचय में समर्थ है। प्राप्त शक्ति के सद्व्यय में प्रवृत्ति का उपयोग है। प्रवृत्ति विद्यमान राग की

निवृत्ति का उपाय है, जीवन नहीं। निवृत्ति का महत्व अंकित हो जाने पर प्रवृत्ति की रुचि मिट जाती है, जिसके मिटते ही नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। राग-रहित होते ही देह से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही अचाह-पद की उपलब्धि होती है। चाह-रहित होने पर अप्रयत्न ही प्रयत्न हो जाता है। और फिर देह आदि वस्तुओं की भिन्नता में ही अनन्त की अभिन्नता निहित है। वस्तुओं की भिन्नता समस्त आसक्तियों को खा लेती है। आसक्तियों का अन्त होते ही दिव्य प्रीति स्वतः जागृत होती है, जो जीवन को साधन बना देती है। मन पर विवेक का प्रभाव उतना नहीं है जितना इन्द्रियों के ज्ञान का, यह समस्या हल करने के लिए सर्व प्रथम इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग, पूरी शक्ति लगाकर, प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ, करना है। तत्पश्चात् इन्द्रियाँ स्वभाव से ही मन में विलीन हो जावेंगी और फिर मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जावेगा, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जावेगी और फिर स्वतः जो होना चाहिए, होने लगेगा। इस मार्ग में निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है; हार स्वीकार करने की कोई बात ही नहीं है। प्रत्येक दशा में, प्रत्येक कार्य से उन्हीं की पूजा करनी है और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है। अपने में अपना कुछ नहीं रखना है। सब कुछ देकर उनकी प्रियता को ही लेना है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। उनकी अहैतुकी कृपा सदैव तुम्हारे अंग-संग है। जिओ, जागो, सदा आनन्दित रहो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार। ●

तुम्हारा

....

५०

अहमदाबाद
८-३-५६

अभिन्न स्वरूप, दिव्य-ज्योति नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

कर्तृत्व के अभिमान तथा फल की आशा से रहित, प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित होने पर अचाह-पद स्वतः प्राप्त होता है, जिसके होते ही गतिशील होने पर भी चिर-विश्राम आ जाता है, जो प्रीति होकर प्रीतम से अभिन्न करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, दिव्य चिन्मय प्रीति ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो—समस्त स्वीकृतियों से अतीत चिन्मय ज्योति हो, पर देह-अभिमान के कारण अपने को कुछ का कुछ मानने लगी हो। प्रत्येक दशा में भीतर से शान्त रहो और प्रत्येक कार्य द्वारा अनेक प्रकार से प्रिय की पूजा करो। प्रिय की स्मृति होकर प्रिय को लाड़ लड़ाओ। यही परम पुरुषार्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

५१

गीता भवन, स्वर्गाश्रम
ऋषिकेश
१०-४-५६

स्नेहमयी दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

कार्य की अधिकता से स्वास्थ्य पर प्रभाव हो सकता है, पर मानसिक स्थिति में कोई विकृति नहीं होनी चाहिए। मानसिक विकृति का मूल कारण पराधीनता है, अर्थात् जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर हो जाती है, उसी के मन की स्थिति में क्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे मानसिक संतुलन नहीं रहता और फिर मस्तिष्क में अनर्गल ख्याल उठते रहते हैं। पराधीनता का मूल कारण तो अविवेक ही है और सहयोगी कारण मानसिक नीरसता है। प्रीति के अभाव में नीरसता की उत्पत्ति होती है। प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता स्वीकार करने पर प्रीति में शिथिलता आती है। प्रीति को सुरक्षित रखने के लिए प्रेमास्पद से भिन्न अन्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करना चाहिए। तभी प्रीति सबल तथा स्थायी हो सकती है। वास्तव में तो प्रीति ही तुम्हारा अस्तित्व है। यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि प्रीति में सत्ता, जीवन प्रीतम का ही होता है। इस दृष्टि से प्रीति प्रीतम का ही प्राण है।

प्रत्येक वर्तमान कार्य को प्रीतम की पूजा मानो। उसे सुन्दरतापूर्वक, फल की आशा से रहित, कर डालो; पर यह ध्यान रहे कि कार्य करने के साधन भी उन्हीं के हैं, जिन्होंने कार्य प्रदान किया है। अब यदि यह प्रश्न उत्पन्न हो कि उन्होंने कार्य क्यों प्रदान किया है, तो समझना चाहिए कि करने के

राग की निवृत्ति के लिए ही कार्य मिला है। अब यदि यह कहो कि रुचि के विरुद्ध कार्य क्यों मिला है, तो समझना चाहिए कि रुचि की पूर्ति के लिए अनेक बार अवसर मिला था, पर करने की आसक्ति का और आर्यजनित सुख-भोग की रुचि का अन्त नहीं किया। इस कारण रुचि के प्रतिकूल परिस्थिति मिली है, पर उसमें सत्ता अपने प्यारे की ही है। प्यारे की ओर से मिली हुई प्रत्येक वस्तु प्रेमियों को प्रिय होती है। उसमें अनुकूलता और प्रतिकूलता का कोई भेद नहीं होता। अनुकूलता और प्रतिकूलता का भेद तो सुख-भोग की रुचि में विद्यमान है, और कहीं नहीं। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-भोग की रुचि गल कर प्रीति से स्वतः अभेद होती जाती है।

तुम उनसे और वे तुमसे दूर नहीं हैं। न मानने तथा न जानने की दूरी वास्तविक दूरी नहीं है। जब तुम किसी और की सत्ता ही स्वीकार न करोगी, तब तुम्हें सर्वत्र सर्वदा अपने प्रीतम का ही दर्शन होगा।

सभी मान्यताओं के मूल में जो है, वह उस अनन्त की प्रीति है। पर वह प्रीति मान्यताओं के कारण अनेक इच्छाओं तथा जिज्ञासा एवं कर्तव्य के रूप में प्रतीत होने लगती है। कर्तव्य-पालन से इच्छाओं का अन्त तथा जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है और फिर प्रीति और प्रीतम की ही नित-नव लीला रह जाती है, जो रस-रूप है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

५२

गीता भवन, स्वर्गाश्रम
१६-४-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति, दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

दशा चाहे जैसी हो, उसकी चिन्ता न करो, पर तुम्हारी तद्रूपता उससे न रहे। जो चीज बदलती है, उससे सम्बन्ध रखने से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। इस कारण सभी अवस्थाओं से, विवेकपूर्वक असंग होना है। यही प्राणी का परम पुरुषार्थ है। अवस्थाओं से असंग होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि उसके पश्चात् अप्रयत्न ही प्रयत्न हो जाता है और फिर प्राणी विश्राम पाकर सब प्रकार से अभय तथा अचिन्त हो जाता है।

यदि अवस्था से सहयोग न किया जाय, तो अहंभाव में जो विकार दब गये है वे सुगमतापूर्वक प्रकट होकर मिट जायेंगे और सदा के लिए निर्विकारता आ जायगी। भय और प्रलोभन से ही विकार सत्ता पाते हैं। वस्तु, अवस्था आदि का आश्रय ही अहंभाव को जीवित रखता है। वस्तु आदि का आश्रय टूटते ही अहंभाव गलने लगता है और फिर योग, ज्ञान तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है। दशाओं के परिवर्तन का बोध जिस ज्ञान में है, वह ज्ञान नित्य तथा अपरिवर्तनशील है। उस ज्ञान का ज्ञान उसी ज्ञान को है, किसी अन्य को नहीं। उस ज्ञान से ही इन्द्रिय, बुद्धि आदि का ज्ञान प्रकाशित होता है और सत्ता पाता है। उस ज्ञान के किसी अंश में ही समस्त दृश्य प्रतीत होता है, जैसे दर्पण में चित्र। यद्यपि दर्पण में चित्र बनता नहीं,

अपितु निर्मल दर्पण ही चित्राकार प्रतीत होता है । राग-रहित होते ही इन्द्रिय मन में, मन बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है । बुद्धि के सम होने पर योग, अर्थात् चिर शान्ति उदय होती है । चिर शान्ति में ही प्रीति तथा बोध का उदय होता है, अथवा यों कहो कि योग, ज्ञान तथा प्रेम उस एक ही की विभूतियाँ हैं, अर्थात् योग में ज्ञान, ज्ञान में प्रेम ज्यों का त्यों मौजूद है । किसी एक के प्राप्त होने पर सभी प्राप्त हो जाते हैं । जिज्ञासा की दृष्टि से जो ज्ञान है, वैराग्य की दृष्टि से वही योग है, और समर्पण की दृष्टि से वही प्रेम है । पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

....

५३

अलीगढ़

२०-७-५६

निर्विकल्पता से अतीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

मूक सत्संग साधक की सभी समस्याओं को हल करने में समर्थ है । तुम उसी का आधार लेकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ ।

प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा पूजा करना ही साधना है । अतः जो परिस्थिति प्राप्त है, उसी का सदुपयोग करना है । स्नेह के रंग में रंगा हुआ न्याय सदैव हितकर सिद्ध होता है ।

इतना ही नहीं, स्नेहपूर्वक किये हुए विरोध में भी एकता सुरक्षित रहती है। तुम इस महामंत्र को कभी मत भूलो। पूजा में विधि और स्नेह दोनों का मिलन रहता है, पर विधि प्रकट रूप से और प्रेम गुप्त रूप से। जिसे प्रत्येक दशा में अपने प्रेमास्पद को रस देना है उसे भय तथा चिन्ता कहाँ ? किसी से भेद कैसा और भिन्नता कैसी ? भेद और भिन्नता के बिना भय की उत्पत्ति ही नहीं होती। तुम अनेक रूपों में उन्हें पहिचान लिया करो। गुप्त स्नेह और प्रकट विधि से पूजा किया करो ! प्रीति को भला कहीं प्रीतम से भय लगता है ? क्या प्रीति ने कभी प्रीतम से भिन्न का दर्शन किया हैं ? कदापि नहीं। ज्यों-ज्यों विधिवत पूजा होती जायगी, त्यों-त्यों अपने आप समस्त प्रवृत्तियों का परिणाम प्रीति में परिवर्तित होता जायगा, यह निर्विवाद सत्य है।

जिस प्रकार कुम्हार अपने ऐश्वर्य तथा माधुर्य से मृत्तिका को अपने प्रेम के योग्य बना लेता है, उसी प्रकार वे अपने अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से अपने प्रेमियों को प्रेम के योग्य बना लेते हैं। उनकी उदारता को कोई-कोई किसी और का गुण मान लेते हैं और उनकी कर्तव्य-परायणता को किसी और का महत्व मान लेते हैं। वास्तव में जहाँ-जहाँ जो-जो महत्व, सौन्दर्य, विशेषता भासती है तुम उसे उन्हीं की लीला जानो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

५४

ऋषिकेश
७-७-५३

देहातीत, दिव्य-ज्योति स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

किसी के कर्तव्य में किसी के महत्व का दर्शन और किसी की उदारता में किसी के गुणों की महिमा का अनुभव ही, इस नाट्यशाला का सौन्दर्य है। अनेक रूपों में उनकी अनुपम लीला, सतत चल रही है। प्रेमी-जन उसे देख-देख प्रेमामृत का पान कर कृतकृत्य हो जाते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं प्रेम होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करते हैं। प्रेम के साम्राज्य में सर्वत्र, सर्वदा प्रेम ही प्रेम है। प्रेम प्रेमी का जीवन और प्रेमास्पद का स्वभाव है। प्रेम से भिन्न प्रेमी का कोई अस्तित्व नहीं है, पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जो देहाभिमान से रहित, सब प्रकार से प्रेमास्पद के हो गये हैं और प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा होने वाली पूजा ही जिनका स्वभाव है—हो गया है। इस मार्ग में सरलता, स्वाभाविकता ही वास्तविक साधना है। अस्वाभाविकता का अन्त करना ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है। जो कुछ हो रहा है उसमें ही अपने प्रिय की अनिर्वचनीय अहैतुकी कृपा का दर्शन करना है। सेवा और प्रेम को ही वास्तविक साधन जानकर अपने को सेवा और प्रेम के स्वरूप में परिवर्तित कर देना है। सेवा और सेवक, प्रेमी और प्रेम के भेद का नाश हो जाना ही वास्तविक स्वाभाविकता है। विवेकपूर्वक असंगता और विश्वासपूर्वक समर्पण अस्वाभाविकता का अन्त करने में समर्थ है। विवेक और विश्वास प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है। पर उसका दुरुपयोग कर

डालने पर ही प्राणी अस्वाभाविकता में आबद्ध हो गया है। विवेक और विश्वास सीखने की वस्तु नहीं है। जाने हुए का आदर और माने हुए में दृढ़ता ही विवेक तथा विश्वास को सजीव बना देती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

... .

५५

श्री वृन्दावन
२६-७-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

मन की सारी बात कहने से तुम्हें विश्राम मिलता है, यह बात तो ठीक ही है। परन्तु मन में कोई बात घुसने ही क्यों देती हो जो कहना पड़े और जिसके खाली करने की आवश्यकता पड़ जाय। सच तो यह है कि प्रेमियों के पास मन रहता ही नहीं, क्योंकि प्रेम, अचाह रूपी प्रेम, अचाह रूपी भूमि में उगता है। चाह-रहित होते ही मन प्रीतम का मन्दिर हो जाता है। प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त के विधान से निर्मित है। जिन साधकों को विधान पर अविचल श्रद्धा होती है, वे प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति को भी आदरपूर्वक देखते हैं। अतः प्रतिकूलता का भय विधान में अनादर का भाव उत्पन्न करता है। दुःखियों के वेश में प्रेमास्पद को देख तुम क्षोभित होती हो अथवा करुणित ? यदि क्षोभित

होती हो तो भूल है और यदि करुणित होती हो तो स्वाभाविकता है। क्षोभित होने से सुख का महत्व बढ़ता है और उसकी दासता अङ्कित होती है। करुणित होने से सुख का राग मिटता है और उदारता उदित होती है, जो भोगासक्ति को खाकर मन को निर्मल बना देती है। निर्मल मन प्रिय को प्रिय है। इसे प्रेमी जानते हैं। कार्यकुशलता की न्यूनता आत्मविश्वास तथा कर्तव्य-विश्वास में अविश्वास उत्पन्न करती है, अर्थात् ज्यों-ज्यों अपने में और वर्तमान कर्तव्य में दृढ़ता होती जाती है त्यों-त्यों कार्यकुशलता स्वत: आती जाती है, क्योंकि आत्मविश्वास से ही कार्यकुशलता का जन्म होता है। यद्यपि पूजा में विधि की प्रधानता होती है, परन्तु प्रीति की वृद्धि होने पर विधि-रहित पूजा भी प्रीतम को अगाध अनन्त रस देती है।

भयहारी के होकर भयभीत होना क्या उनका अनादर नहीं है? अनेक रूपों में उस अनन्त को देखना क्या रस-वृद्धि में हेतु नहीं है? जब अपने में अपना कुछ है ही नहीं, तब कार्यकुशलता की न्यूनता क्या सम्भव है? जो तुम्हारे सम्बन्ध में तुमसे भी अधिक जानते हैं, क्या उनसे भी कुछ कहना है? जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्रिय को रस प्रदान कर कृतकृत्य हो जाओ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

……………

५६

वृन्दावन
२८-७-५६

स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय तथा प्रसन्न रहो।

मानव सेवा संघ की नीति अपने पर अपना नेतृत्व और शासन करने की है और मानव को अपना ही गुरु बनना है। इस नीति के आधार पर ही विचार-विनिमय चलेगा। क्योंकि इसके बिना मानव न तो दासता से छूट सकता है और न दूसरों की स्वाधीनता सुरक्षित रख सकता है। सेवा, त्याग, योग्यता, तप आदि के द्वारा भी लोगों ने दूसरों को अपना दास बनाया है और स्वयं दास बन गये हैं। दास बनने-बनाने की नीति का स्नेहपूर्वक, घोर विरोध करना है। तभी मानव अपने को उस दिव्य जीवन का अधिकारी बना सकता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा
....

५७

जयपुर
११-८-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

यह बात भलीभाँति समझ लो कि मन को पूरा-पूरा लगा देना मन को अपने अधीन करने का सुगम उपाय है। मन जब

पूरा लग जाता है तब उसमें सब ओर से विमुख होने की शक्ति स्वतः आ जाती है, जो वास्तव में योग है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्तव्य-विज्ञान की पूर्णता में योग-विज्ञान का उदय है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति अपने-अपने स्थान पर पूर्ण, अर्थात् साङ्गोपाङ्ग होनी चाहिए।

जिनके पीछे तप्त मरुभूमि का झंझा और सामने प्रकाश का पुंज एवं प्रेम का सागर लहरा रहा है, उनसे सादर सप्रेम निवेदन करें कि निर्भय होकर प्रकाश का आश्रय लेकर, लहरों के साथ सागर में आगे बढ़ते जायँ, किनारे पर खड़े रह कर देख-देख कर सन्तोष न करें—पीछे की स्मृति भूल जायँ और उत्तरोत्तर आगे-आगे ही बढ़ते जायँ—असत्य की स्मृति सत्य का आवरण बन जाता है। सत्य की जिज्ञासा असत्य की स्मृति को खा लेती है। जिज्ञासा की शिथिलता में उपर्युक्त स्थिति भासती है। तीव्र जिज्ञासा स्वतः काम को खाकर पूरी हो जाती है।

यह नियम है कि यदि साधक अपने शरीर की भांति दूसरों से प्यार करने लगे और दूसरों की भांति अपने शरीर के प्रति न्याय करने लगे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग त्याग में और द्वेष प्रेम में बदल जाता है, जिसके बदलते ही योग, ज्ञान, प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है।

अब यदि कोई साधक यह कहे कि अपने को तीनों शरीरों से अलग अनुभव ही कहाँ किया है—अपने में और शरीर मे तो एकता प्रतीत होती है। ऐसी दशा में, सहज भाव से शरीर की एकता को जानने का प्रयास करो, तो भिन्नता का दर्शन हो जायगा। शरीर से एकता मानकर निश्चिन्त मत हो जाओ,

अपितु एकता को जानने का प्रयास करो, अर्थात् जानने की शक्ति से शरीर की एकता देखते ही भिन्नता प्रतीत होगी। मानी हुई एकता नित्य नहीं रहती, इस कारण यह मानना कि शरीर और मैं एक हैं, मानने को जानने का स्थान देना है। जब मान्यता को ज्ञान का रूप दे दिया जाता है, तब मान्यता में सत्यता एवं प्रियता आ जाती है, जो बेचारे प्राणी को असंगता का अनुभव नहीं होने देती।

अधिकार-लालसा को त्याग, स्नेह की एकता स्वीकार कर, सभी के अधिकारों की रक्षा करते हुए कार्य के अन्त में अनन्त की दिव्य चिन्मय रसरूप गोद में विश्राम करो। मानसिक सन्तुलन स्वतः हो जायगा।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

५८

इन्दौर

२५-८-५६

सभी अवस्थाओं से अतीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

सरलता, सच्चाई एवं स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। अपने को देह से अलग जान लेने पर भी तुम्हें देह-जनित दुःख का भय लगता है, यह जानकर आश्चर्य हुआ। देह-जनित दुःख का भय सुख की दासता का सूचक है। सुख की दासता देह की

ममता से सिद्ध है। अतः यह जान लेने पर कि मैं देह नहीं हूँ देह की ममता का भी त्याग करना होगा, अर्थात् यह भलीभाँति जानना होगा कि देह मेरा नहीं है। पर इसका अर्थ देह के प्रति शत्रुता करना नहीं है, अपितु देह को उन्हीं की वस्तु मानकर, उनकी ही प्रसन्नतार्थ देह की सेवा करना है। सेवक के हृदय में दुःखी को देखकर करुणा उदय होती है, दुःख का भय उत्पन्न नहीं होता, और सुखी को देखकर प्रसन्नता उदय होती है, सुख का प्रलोभन उत्पन्न नहीं होता है।

जिओ, जागो, आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

५९

उज्जैन

८-९-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

एक काल में एक ही कार्य का करना सर्वोत्कृष्ट कार्यकुशलता है, कारण कि जीवन का उद्देश्य भी तो एक ही है। विद्यालय, गृह और संघ के कार्य देखने में अलग-अलग हैं, पर वास्तव में अलग-अलग नहीं हैं, क्योंकि सृष्टि एक है और उसका प्रकाशक भी एक ही है। जिस प्रकार शरीर एक और उसके अवयव अनेक हैं, पर प्रत्येक अवयव का कार्य तथा शृंगार अलग-अलग होने पर भी, परस्पर में स्नेह की एकता है; उसी प्रकार अनेक ढंग

के कार्यों द्वारा उस एक ही की पूजा करनी है, जो तुम्हारा अपना है और उसकी ही तुम नित्य प्रीति हो। अपने स्वरूप को जानो और अपने ही की पूजा करो। इस सद्भावना से अनेक कार्य एक ही प्रतीत होंगे। भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों से तो शरीर, मन, मस्तिष्क आदि को विश्राम मिलना चाहिए और नये-नये ढंग के कार्य करने से नई-नई अभिरुचि उदय होनी चाहिए, जिससे प्रतिक्षण एक नवीन रस की अभिव्यक्ति हो। इस दृष्टि से तो भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा ही साधक नित-नव विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

प्रत्येक परिस्थिति अपने प्यारे की ही अभिव्यक्ति है, तो फिर अनेकता में एकता का दर्शन स्वाभाविक ही है। तुम कभी भी अकेली नहीं हो, अथवा सर्वदा अकेली ही हो। प्रीति और प्रीतम का नित्य मिलन और वियोग है और दोनों ही रसरूप हैं। प्रिय की मधुर स्मृति में भी अनन्त रस है और अभिन्नता में भी अनन्त तथा अपार रस है। प्रेम के साम्राज्य में खिन्नता की तो गन्ध ही नहीं है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

... .

६०

पटना
१५-११-५६

देहातीत, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,
सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

देह-जनित सुख की दासता का अन्त करने के लिए रोग के स्वरूप में तुम्हारे ही प्रीतम आए हैं। उनसे डरो मत, अपितु उनका आदरपूर्वक स्वागत करो और विधिवत उनकी पूजा करो। रोग, भोग के राग का अन्त कर अपने आप चला जायेगा। रोगावस्था में मानसिक शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। शरीर द्वारा जो न हो सके, उसकी चिन्ता न करो और जो हो सके, उससे अपने को बचाओ मत। स्वरूप से तुम किसी भी काल में रोगी नहीं हो, केवल देह की तद्रूपता से ही तुम्हें अपने में रोग प्रतीत होता है। देह की तद्रूपता अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। अतः उसका अन्त करने में निज विवेक सर्वदा समर्थ है। अचाह, अप्रयत्न और अभिन्नता अपना लेने पर देह की तद्रूपता स्वतः मिट जाती है। चाह-निवृत्ति के लिए जब कोई श्रम अपेक्षित नहीं है, तो फिर इस साधना में पराधीनता की बात कहाँ है और उसके लिए कोई अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा ही कैसे हो सकती है। प्राप्त परिस्थिति से निर्ममता की दृढ़ता ही चाह-रहित होने का सुगम उपाय है, जिसे प्रत्येक विचारशील साधक सुगमतापूर्वक कर सकता है। कारण कि किसी भी वस्तु से नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। यह ज्ञान मानवमात्र को प्राप्त है। इस ज्ञान के अनादर से ही मानव

परिस्थितियों की दासता में आबद्ध हो गया है। इस ज्ञान का आदर कराने में रोग भगवान सहायक हैं, बाधक नहीं। परन्तु जीने की आशा तथा मृत्यु के भय ने प्राणी को देह का दास बना दिया है। कामनाओं में आबद्ध होने से प्राणी अपने को देह मानने लगा है। यह उसी की बनायी हुई भूल है। इस भूल का अन्त करते ही परम आरोग्यता स्वतः आ जायगी। देह का सदुपयोग विश्व भगवान की पूजा है। उसे यथाशक्ति विधिवत करने के लिए आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता अपने आप आ जाती है। पर जब प्राणी असावधानी के कारण विश्व भगवान की पूजा के बदले में देह की पूजा करने-कराने लगता है तब वह बेचारा देह की दासता में आबद्ध होकर आधि-व्याधियों में आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से प्राप्त देह आदि वस्तुओं को विश्व भगवान की पूजा-सामग्री समझो, उसे अपना मत मानो-यह महामंत्र है देहाभिमान से मुक्त होने के लिए। एक अनुभवी सन्त के साथ रहने का अवकाश मिला था, रोगावस्था में उनकी निष्ठा स्वस्थ होने की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र हो जाती थी। वे अपनी बोलचाल की भाषा में कह दिया करते थे कि भाई, टूटे-फूटे मकान में सूर्य का प्रकाश अधिक होता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने विवेकपूर्वक देह से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। सच पूछिये तो यही मानव का परम पुरुषार्थ है। प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त का मंगलमय विधान है। उसका सदुपयोग ही सहज स्वाभाविक साधन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

तुम्हारा

....

६१

लखनऊ
२३-११-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद की प्रीति होकर रहो।

विश्राम सही काम करने के पश्चात् स्वतः आ जाता है। इसके लिए स्थान-विशेष की अपेक्षा नहीं है।

अनुभूति-जनित सुख का भोग करने से इसका प्रभाव नहीं रहता। शरीर की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर उससे असंगता का बोध हो जाता है; पर अचाह, अप्रयत्न तथा अभिन्नता के बिना बोध में अविचल प्रीति नहीं होती और प्रीति के बिना बोध के प्रभाव से रोम-रोम छकता नहीं। अतः सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय होकर शान्त हो जाओ। यही वास्तविक पुरुषार्थ है।

बोध में उन्हीं की कृपा का अनुभव करो। उसे अपना गुण मत मानो, कारण कि वास्तव में अपने में अपना कुछ है ही नहीं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

६२

तिलौथू
२०-११-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

विवेकपूर्वक वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद ही प्रिय से नित्य सम्बन्ध की भूमि है। अतः देहादि वस्तुओं की निर्ममता में ही उनकी आत्मीयता निहित है। वे अनेक रूपों में, अनेक प्रकार की लीला कर रहे हैं। बोध, अबोध सभी उन्हीं की अभिव्यक्तियाँ हैं। विवेकी के जीवन से वस्तु-बुद्धि का अत्यन्त अभाव हो जाता है। उसके होते ही सर्वत्र प्रीति और प्रीतम ही भासता है। प्रीति और प्रीतम में नित्य मिलन तथा नित्य वियोग है। इस दृष्टि से प्रेमी-जन सभी में अपने प्रेम-पात्र का ही दर्शन करते हैं। प्रीति सभी प्रवृत्तियों द्वारा व्यक्त हो सकती है। उसके लिए किसी प्रवृत्ति-विशेष की अपेक्षा नहीं है।

जिओ, जाओ, सदा आनन्द रहो। ●

तुम्हारा
....

६३

बलरामपुर
३०-११-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

ता० २७-११-५६ का लिखा पत्र मिला। वर्तमान का सदुपयोग ही सर्वोत्कृष्ट साधन है और यही सफलता की कुंजी है। आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन असाधन है। अतः सदा के लिए उसका अन्त करना अनिवार्य है। कार्य करने की सामर्थ्य तथा योग्यता एवं कार्य सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होती हैं। उनके लिए चिन्ता करना भूल है। मिले हुए का सदुपयोग तो वास्तविक साधन है। प्राप्त का दुरुपयोग और अप्राप्त की कामना तो असाधन है। जिसका विधान मंगलमय है, उसी के बनाये हुए कार्यक्रम का आदरपूर्वक पालन करना है। कार्य करते समय अवकाश का चिन्तन करना कार्य करने की सामर्थ्य का दुरुपयोग है।

तुम सदैव उसके साथ हो, जिसके साथ रहना है। जिससे नित्य सम्बन्ध है, उसी के साथ रहना है। नित्य सम्बन्ध उसी के साथ है जिससे देश-काल की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, वह कभी भी अप्राप्त नहीं है, अपितु प्राप्त ही है। उसी की प्रीति होकर रहना है। प्रीति उत्पत्ति-विनाश युक्त वस्तु नही है, अपितु दिव्य चिन्मय नित्य तत्व है। प्रीति से अभिन्न होना ही प्रीति को प्राप्त करना है। प्रीति चाह-रहित

होने पर ही जागृत होती है। अपना सब कुछ, अपने सहित, बिना किसी हेतु के, दे डालने से ही साधक चाह-रहित हो सकता है। यही साधक का परम पुरुषार्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

६४

देवरिया
८-१२-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

प्रतिकूलता उतनी ही आती है, जितनी सहन हो सके। और अनुकूलता उसी समय तक रहती है, जब तक उसमें जीवन-बुद्धि न हो, अर्थात् प्रत्येक साधक को अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करना है। अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

६५

लखीमपुर
१२-१२-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

तुम सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

कारण कि वही तुम्हारा वास्तविक रूप है। जगत के द्वारा तो जगत की ही बातें कही-सुनी जा सकती है, क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुएँ जगत ही की तो हैं, और सभी समस्याएँ भी जगत ही में हैं। जब प्रीति अपने को किसी वस्तु, अवस्था आदि में आबद्ध करने लगती है तब उसके सामने आसक्तियों का अन्त करने का प्रश्न उत्पन्न होता है, यद्यपि उनके मंगलमय विधान के अनुसार आसक्तियों का अन्त करने के लिए अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ अपने आप आती हैं, किन्तु प्राणी प्रमादवश उन प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में परिवर्तित करने के लिए अथक प्रयत्न करता है। यद्यपि प्रतिकूलता अपने आप आती-जाती है, परन्तु प्राणी उसके भय से भयभीत होकर जो नहीं करना चाहिए, करने लगता है और जो करना चाहिए, उसे भूल जाता है।

कर्तव्य का सम्बन्ध 'पर' से ही है, 'स्व' से नहीं। प्रत्येक मान्यता कर्तव्य की प्रतीक है और प्रत्येक कर्तव्य दूसरों का अधिकार है। इस दृष्टि से लिखने-पढ़ने-सोचने की बात तो दूसरों के लिए ही है। अपना किसी पर कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि अधिकार-लालसा प्रीति को मलिन करती है। अतः

जिसका स्वरूप ही प्रीति है, भला उसमें अधिकार की गंध कहाँ रह सकती है ! अधिकार-लालसा से रहित कर्तव्य-परायण साधक का समस्त जीवन साधना ही है, और कुछ नहीं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जो वास्तव में कर्तव्य-पालन में आस्था रखते हैं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के रूप में उस अनन्त को रस देने के लिए होती है। भला किसी योग्य अभिनेता को कभी इस प्रकार का चिन्तन होता है क्या कि मुझे कौन-सा अभिनय मिला है ? उसके सामने तो केवल एक ही प्रश्न रहता है कि जब जो अभिनय मिलेगा उसे वास्तविकता की भाँति पूरा करूँगा, किन्तु दृष्टि सदैव अपने लक्ष्य पर ही रहेगी। अभिनय का दर्शक भी सुन्दर अभिनय से मोहित होता है और उस कम्पनी के डायरेक्टर को भी ठीक अभिनय होने से प्रसन्नता होती है। और अभिनय-कर्ता में से भी करने का राग नाश हो जाता है, जिससे वह राग-रहित होकर योग, ज्ञान तथा प्रेम का अधिकारी हो जाता है। इस दृष्टि से परिस्थिति के अनुरूप प्रत्येक कर्तव्य राग-निवृत्ति का साधन-मात्र है, और कुछ नहीं।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

……………

६६

झांसो
१८-१२-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो ।

सच्चे आस्तिक को अपने लिए शरीर आदि किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है । उनकी दी हुई परिस्थिति के सदुपयोग में ही सन्तुष्ट रहना है । उनके मंगलमय विधान का आदर करते हुए प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रशन्न रहो । जो कुछ हो रहा है, उसी में उनकी अनुपम लीला का अनुभव करो । उनकी दी हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता से उन्हीं को लाड़ लड़ाओ । विश्व के स्वरूप में उन्हीं की सेवा करो और उन्ही की प्रीति होकर रहो । यही आस्तिक का परम पुरुषार्थ है । प्रीति के लिए संयोग-वियोग कुछ अर्थ नहीं रखता, कारण कि प्रीति तो प्रत्येक दशा में उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है । सुख-भोग की रुचि से ही प्रीति में शिथिलता आती है । अतः उस पिशाचिनी का उनकी अहैतुकी कृपा का आसरा लेकर अन्त कर दो । बस, बेड़ा पार है । प्रीति क्षण-क्षण नित नई ही रहती है । उसको सुरक्षित रखने के लिए, होने में प्रसन्न तथा करने में सावधान रहना है । नित्य-सम्बन्ध तथा आत्मीयता ही प्रीति की भूमि है । सम्बन्ध जोड़ने में और तोड़ने में सभी साधक सर्वदा स्वाधीन हैं । जिससे छुटकारा पाना है उसकी सेवा करते हुए उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है और जिसके साथ सदैव रहना है उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर आत्मीयता दृढ़ करना है, जो अपने ही हैं उनसे

दूरी तथा भेद उनकी प्रीति बढ़ाने में हेतु हैं। पर कब? जब कोई और अपना न हो। अपनापन तो सदा के लिए उन्हीं के साथ रखना है, जिनसे जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

६७

इलाहाबाद

१३-१-५७

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

आवश्यकतानुसार सभी बातें अपने आप होती रहती हैं, किन्तु कामना-पूर्ति का प्रलोभन प्राणी को शान्त नहीं रहने देता। शान्ति के बिना न तो वर्तमान कार्य ही सुन्दर होता है और न सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है। इसी कारण बेचारा प्राणी अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय में आबद्ध होकर वर्तमान का दुरुपयोग करता रहता है। इसी असावधानी से जीवन साधन नहीं हो पाता।

प्रत्येक कार्य अपने प्यारे की पूजा है, और कुछ नहीं। इस कारण प्रत्येक कार्य को नित-नव उत्साह तथा उत्कण्ठापूर्वक करना चाहिए। करने के अन्त में अपने आप मधुर स्मृति उदय होगी, जो प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करने में समर्थ है। प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग ही परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर सकता है। अप्राप्त परिस्थिति की मांग किसी न किसी रूप में परिस्थितियों की दासता को ही जन्म देती है। इस कारण विचारशील साधक न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते हैं और न प्राप्त परिस्थिति के सुख-दुःख में आबद्ध होते हैं, अपितु उदारतापूर्वक सुख का और विरक्त होकर दुःख का सदुपयोग करते हैं। सुख का भोग और दुःख का भय उन्हीं प्राणियों के जीवन में रहता है, जो परिस्थिति को ही जीवन मानते हैं।

जो सर्वकाल में, सर्व देश में, सदैव अपने ही हैं, उन्हीं की प्रीति होकर रहना है। इसके लिए जो नहीं कर सकते, वह नहीं करना है और जो नहीं जानते वह नहीं जानना है और जो नहीं मानते, वह नहीं मानना है, प्रत्युत जो कर सकते हैं वही करना है, जो जानते है उसी का आदर करना है, जो मानते हैं उसी में दृढ़ रहना है। विकल्प-रहित विश्वास नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने में समर्थ है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान वस्तुओं से असंग करने में हेतु है। सम्बन्ध तोड़ने और जोड़ने मे लेशमात्र भी पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है; फिर भी जो करना चाहिए, उसे नहीं कर पाते और जो नही करना चाहिए उसे करते रहते हैं, यह प्रमाद-जनित सुख के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

शरीर की चिकित्सा की व्यवस्था यथोचित, यथाशक्ति, यह मानकर कि शरीर न तो मेरा है और न मैं हूँ, अपितु विश्वात्माकी

धरोहर है, करती रहो और जो न कर सको उसकी चिन्ता न करो। निश्चिन्तता तथा निर्भयता महान तप है।

पुन: तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

६८

अहमदाबाद

१-४-५७

प्रीति स्वरूपा, दिव्य-ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

क्या प्रीति को शरीर की आवश्यकता है? कदापि नहीं। शरीर तो विश्व भगवान की सेवा-सामग्री है—वे उससे जो सेवा चाहें लें—अपने को शरीर अथवा शरीर को अपना मानकर प्राणी अपने वास्तविक स्वरूप से विमुख हुआ है। शरीर के बनने तथा बिगड़ने से तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। शरीर जिसकी वस्तु है, वह उसे जैसा चाहे वैसा रखे, और जहाँ चाहे वहाँ रखे और जैसा चाहे वह उसका वैसा उपयोग करे—शरीर की सेवा में तुम्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए और शरीर के तिरस्कार में भी कोई क्षोभ नहीं होना चाहिए। तुम जिसकी प्रीति हो, वह सदैव तुममें ही निवास करता है, अथवा

यों कहो कि वह इतनी दूर है कि जहाँ मन, बुद्धि आदि की भी पहुँच नहीं है। यह नियम है कि जो अति निकट अथवा अति दूर हो, उससे मिलन श्रम-साध्य नहीं है। उसके लिए तो केवल उसकी प्रीति ही होना है। प्रीति, विश्वास तथा आत्मीयता में निहित है, किसी अभ्यास में नहीं।

शरीर की आवश्यकता किसी-न-किसी प्रकार के श्रम के लिए होती है, प्रीति के लिए नहीं। प्रीति के लिए तो केवल जातीय एकता, नित्य-सम्बन्ध तथा आत्मीयता ही अपेक्षित है। विश्व भगवान अपने शरीर को चाहे जैसे रखें, तुम उसकी ओर से सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जावो। शरीर का राग मिटाने के लिए रोग का अवतार हुआ है। राग-रहित होते ही रोग स्वतः मिट जायगा। राग-निवृत्ति के लिए शरीर से निर्मम होना है, जिसे प्राप्त करने में तुम सदैव स्वाधीन हो।

इस बार तुम्हारे मन में दो संकल्प थे, इसलिए उसमें से एक ही, किसी सीमा तक, पूरा होगा, किन्तु उस संकल्प-पूर्ति का परिणाम निःसंकल्पता में होना चाहिए। संकल्प-पूर्ति और अपूर्ति दोनों से ही अपने को यही सीखना है कि निः संकल्प हो जायँ। और बार-बार यही मंत्र सामने रहे–हे प्यारे, तेरी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हें अपने लिए किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है — क्योंकि जो कुछ भी चाहता है, उसे प्रीति प्राप्त नहीं होती— इस कारण प्रत्येक अवस्था में चाह-रहित रहना है, जिसके लिए अपने को सब प्रकार से उन्हीं के समर्पण करना है जिनकी तुम प्रीति हो। कामना, जिज्ञासा और प्रीति तीनों ही व्यक्ति में विद्यमान हैं। ज्यों-ज्यों कामनाएँ नाश होती जाती हैं, त्यों-त्यों जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य अपने आप आती जाती

है। जिस काल में सभी कामनाएँ मिट जाती हैं, उस काल में जिज्ञासा पूरी हो जाती है, जिसके होते ही प्रीति की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि निस्सन्देहता ही प्रीति की जननी है।

प्रत्येक क्रिया उनकी प्रीति में विलीन हो जाय, प्रत्येक भावना उनसे सम्बन्ध जोड़ने में हेतु बन जाय, प्रत्येक घटना उनके मंगलमय विधान के आदर कराने में समर्थ हो जाय–यही इस जीवन का पुरुषार्थ है। करना है प्रीति और उसके बदले में लेना कुछ नहीं है, केवल उनकी प्रीति होकर ही रहना है, क्यों कि प्रीति ही उन्हें रस देने में समर्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

६८

जामनगर
११-२-५७

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुम सदैव उसके साथ हो, जिसके साथ रहना है। सभी कार्य उसी के कार्य हैं। सभी स्थान उसी के स्थान हैं। तो फिर चिन्ता तथा भय के लिए स्थान ही कहाँ है? मुख्य कार्य तो शान्त ही रहना है और यथाशक्ति विधिवत् शरीर देवता के स्वरूप में अपने प्यारे की पूजा करनी है। जो भी परिस्थिति आवे, उसी का हर्षपूर्वक

सदुपयोग करती रहो—कब तक ? जब तक करने का राग तथा रुचि है । वास्तव में तो शरणागत को कुछ भी करना शेष नहीं है । तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की दिव्य चिन्मय प्रीति हो । रोग के स्वरूप में देह की आसक्ति मिटाने के लिए तुम्हारे ही प्रियतम आये हैं । जिस देह का सदैव तिरस्कार करती रही हो, उसकी पूजा भी अनिवार्य है । जब ये दोनों कार्य पूरे हो जायेंगे, रोग सदा के लिए चला जायगा । यह सदैव ध्यान रहे कि कोई और तो है ही नहीं, तो फिर प्रत्येक दशा में आनन्द ही आनन्द है ।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

... .

७०

राजकोट

११-२-५७

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

शरीर चाहे जिस दशा में रहे, पर तुम सर्वदा उस अनन्त की प्रीति होकर रहो । यही मेरी सद्भावना है । वास्तव में तो सत्संग जीवन में एक ही बार होता है, सत् की चर्चा अनेक बार होती है। सत् की चर्चा से सत् की लालसा सबल तथा स्थायी हो जाती है, जो जाने हुए असत् का त्याग कर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है । सत् की जिज्ञासा असत् की कामनाओं को खा लेती

है और सदा के लिए सत् से अभिन्न कर देती है। यही वास्तव में सत्संग है।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

७१

नई दिल्ली
२८-३-५७

स्नेहमयी साधन-निष्ठ, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,
सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

प्राणी अपने को देह मानकर ही किसी शरीर के प्रति ममता कर बैठता है, जो वास्तव में प्रमाद है। अनन्त में देह और देही का विभाजन नहीं है। जिसमें देह-देही विभाजन नहीं है, उसी में अपनी ममता करनी है, अर्थात् उसी को अपना मानना है और सर्वदा उसी की प्रीति होकर रहना है। प्रीति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु श्रम-रहित, स्वाभाविक, अपने आप प्रगट होने वाला दिव्य चिन्मय तत्व है। प्रीति का उदय तभी होता है जब अनेक विश्वास एक विश्वास में, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में एवं अनेक चिन्तन एक चिन्तन में विलीन हो जाते हैं। प्रेमी सर्वत्र, सर्वदा अनेक रूपों में अपने प्रेमास्पद को ही पाता है। उसकी दृष्टि में किसी और की सत्ता ही शेष नहीं रहती, क्योंकि प्रेम ने किसी और का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है। यह नियम है कि साधक जिसकी सत्ता स्वीकार नहीं

करता उसमें उसका विश्वास नहीं रहता। जिसमें विश्वास नहीं रहता, उसमें सम्बन्ध नहीं रहता। और जिससे सम्बन्ध नहीं रहता, उसका चिन्तन नहीं होता। जिसका चिन्तन नहीं होता उसमें आसक्ति नहीं होती। आसक्ति का अन्त होते ही प्रीति स्वतः जाग्रत हो जाती है, जो प्रीतम से अभिन्न करने में समर्थ है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

७२

नई दिल्ली

३०—३—५७

प्रीति स्वरूपा, दिव्य-ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

प्रीति ही प्रीतम की भोग्य वस्तु है और तुम प्रीति हो। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि तुम अपने प्रेमास्पद की प्रिय वस्तु हो। अनेक रूपों में वह एक ही अपनी अनुपम लीला कर रहा है, प्रेमी-जन जिसे देख-देख मुग्ध होते रहते हैं और प्रेमास्पद के प्रेम होकर रस प्रदान करते हैं। प्रीति रस की खान है, और कुछ नहीं। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है। प्रीति में प्रीतम और प्रीतम में प्रीति ओतप्रोत हैं। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग

ही अपने प्यारे की पूजा है। उनकी मधुर स्मृति ही अपना जीवन है । श्रम-रहित होते ही आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता का विकास स्वतः होता है। उनके नाते किया हुआ वर्तमान कार्य विश्राम की भूमि है । विश्राम में ही समस्त विकास निहित है, पर वह उसी को प्राप्त होता है, जिसे कुछ नहीं चाहिए। जो कुछ भी चाहता है, उसका प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता । जिसने अपने को देकर उनकी प्रीति को पाया है, उसने ही सब कुछ पाया है । जहाँ रहो प्रसन्न रहो— यही मेरी सद्भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो । पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

.. ..

७३

गीता भवन

५–४–५७

प्रीति स्वरूपा, दिव्य-ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

देहाभिमान गलाने के लिए ही रोग भगवान आये हैं। प्राणों के रहते हुए ही समस्त कामनाओं का अन्त होना है। वस्तुओं के अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा प्राप्त करने के लिए ही मानव जीवन मिला है।

आवश्यकतानुसार वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता स्वतः आ जायगी। मिली हुई सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करती रहो। अप्राप्त वस्तु आदि की चाह सदा के लिए निकाल दो। चाह-रहित होने में ही समस्त विकास निहित है। यह महामंत्र अपना लेने पर जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है। इसके होते ही साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

७४

गीता भवन

२५-४-५७

प्रीति स्वरूपा, दिव्य-ज्योति,

मानव सेवा संघ के सत्संग का रूप मानव सेवा संघ की समस्याओं को हल करते हुए अपने उद्देश्य, अर्थात् सुन्दर समाज का निर्माण तथा अपना कल्याण करना है। इस उद्देश्य पर दृष्टि पर रखते हुए ही वर्तमान कर्तव्य-कर्म को पूरा करना है। कर्तव्य-पालन से पूर्व परस्पर विचार-विनिमय द्वारा कर्तव्य का ज्ञान अनिवार्य है। यद्यपि प्रत्येक कर्ता में बीज रूप से कर्तव्य का ज्ञान विद्यमान है, परन्तु उस विद्यमान ज्ञान को प्राप्त परिस्थिति के

सदुपयोग में मिला देना है। जिस कर्तव्य को अन्य मत, दल, सम्प्रदाय किसी अन्य के आदेश द्वारा पालन की प्रेरणा देते हैं, मानव सेवा संघ उसी कर्तव्य को मानव को अपनी प्रेरणा जानकर पालन करने का नित-नव उत्साह प्रदान करता है, कारण कि अपने प्रति अपनी आत्मीयता स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, अपने में जितनी सत्यता तथा प्रियता हो सकती है, उतनी उसमें नहीं होती जो वास्तव में अपने से भिन्न है। यद्यपि समस्त विश्व में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिससे स्वरूप की भिन्नता हो, किन्तु काल्पनिक भिन्नता के कारण 'स्व' और 'पर' की प्रियता में कुछ-न-कुछ भेद अवश्य हो जाता है। मानव सेवा संघ अभिन्नता का पुजारी है। इसी कारण कर्तव्य के ज्ञान में भी निज विवेक के प्रकाश को ही आदर देता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार 'पर' के द्वारा भी अपना ही ज्ञान अपने काम आता है। अतः अपने ज्ञान का आदर करने का स्वभाव बनाना ही मानव सेवा संघ की सत्संग प्रणाली है। जिस ज्ञान से अपने प्रति होने वाली बुराइयों का ज्ञान होता है, उसी ज्ञान का नेतृत्व प्रत्येक मानव को अपने प्रति करना है; क्योंकि जाने हुए दोष के त्याग में ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति निहित है। यह महामंत्र मानव-मात्र को अपनाना है। मानव सेवा संघ के सत्संग में पर-चर्चा का कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि वर्तमान में प्रत्येक मानव निर्दोष है। भूतकाल के दोषों के आधार पर किसी को दोषी मानना उसके प्रति घोर अन्याय है। इतना ही नहीं, यदि वह स्वयं अपने को दोषी माने, तब भी उसे यही प्रेरणा देना है कि यदि तुम भूतकाल के दोषों को इस समय नहीं दोहरा रहे हो, तो निर्दोष हो। मानव सेवा संघ की नीति में पर-सेवा का बहुत बड़ा स्थान है, क्योंकि पर-सेवा में ही सुन्दर

समाज का निर्माण निहित है। पर, सेवा का अर्थ यह नहीं है कि जिसकी सेवा की जाती है उससे स्वरूप की भिन्नता है। केवल काल्पनिक-भेद का नाम ही 'पर' है। मानव सेवा संघ की नीति में बल निर्बल की, धन निर्धन की, योग्यता अयोग्य की धरोहर है। बल के द्वारा निर्बल से और धन के द्वारा निर्धन से और योग्यता के द्वारा अयोग्य से स्नेह की एकता स्थापित कर राग-द्वेष का अन्त करना है, अर्थात् त्याग तथा प्रेम से युक्त जीवन बनाना है। मानव सेवा संघ का सत्संग वर्तमान जीवन की प्रत्येक समस्या को त्याग तथा प्रेम के द्वारा हल करता है। मानव सेवा संघ मानव-मात्र को उसकी अनुपम सुन्दरता का बोध कराता है। प्रत्येक मानव मानवता के विकसित होने पर इतना सुन्दर हो सकता है कि उसकी सभी को आवश्यकता हो जाती है और उसे किसी की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि मानवता विश्व तथा विश्व के प्रकाशक को स्वभाव से ही अत्यन्त प्रिय है। अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार साधन-निर्माण के द्वारा मानव-मात्र को निर्दोषता, स्नेह की एकता और वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करना है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए परस्पर में विचार-विनिमय करना है। जाने हुए दोष को न दोहराने पर निर्दोषता स्वतः आजाती है। दूसरों के अधिकारों की रक्षा करने पर परस्पर में स्नेह तथा विश्वास अपने आप उदय होता है। अपने अधिकारों का त्याग करते ही वास्तविक स्वाधीनता अपने आप आजाती है, जिसके आते ही जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है, जिसकी सभी की मांग है।

तुम जिसकी विभूति हो, वह तुम्हारा प्रियतम अन्तर्यामी रूप से तुम्हीं मे विद्यमान है। जब तुम शान्त होकर निश्चिन्त

हो जाओगी, तब तुम्हें आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता बिना ही मांगे अपने आप मिल जायेगी। मिली योग्यता के सदुपयोग में ही आवश्यक योग्यता की प्राप्ति निहित है। तुम उस लेखक की कलम होकर रहो। तुम्हारे द्वारा वह जो चाहे सो करे। कर्तृत्व का अभिमान गल जाने पर सब कुछ स्वतः होने लगता है। तुम प्रीति-निर्मित दृष्टि से अनेक रूपों में, अपने प्रियतम की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो। उनकी लीलास्थली में जो अभिनय मिला है, उसको पूरा करने की सामर्थ्य भी मौजूद है। ज्यों-ज्यों फलासक्ति तथा भोग-बुद्धि मिटती जायेगी, त्यों-त्यों जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगेगा। अतः प्रत्येक दशा में सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय बनी रहो। प्रेमास्पद के नाते सभी अपने हैं और मोह के नाते अन्य की तो कौन कहे, शरीर भी अपना नहीं है। माने हुए सम्बन्धों का अन्त करते ही नित्य-सम्बन्ध की जागृति स्वतः हो जायेगी और फिर प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय प्रतीत होगी। सुख की आशा और दुःख का का भय सदा के लिए मिटा दो। सुखियों तथा दुःखियों के स्वरूप में अपने प्यारे को देख करुणा तथा प्रसन्नतापूर्वक उनकी पूजा करो और सर्वदा उन्हीं की प्रीति होकर रहो। बस, यही महामन्त्र है—समस्त समस्याओं को हल करने का।

मानव सेवा संघ के साहित्य का प्रचार अपने-अपने ढंग से, जिसको जैसा ढंग प्रिय हो, करे। वास्तव में तो मानव-मात्र की अनुभूति ही मानव सेवा संघ का साहित्य है। मानव सेवा संघ की नीति परस्पर में स्नेह की एकता स्थापित करने की है, क्योंकि स्नेह ही एक ऐसा तत्व है जिससे संघर्ष का अन्त हो

जाता है। अतः जिन उपायों से स्नेह की वृद्धि हो, वही उपाय अपनाने का प्रयत्न करना है।

जिओ जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

७५

नई दिल्ली

६-८-५७

दिव्य ज्योति, स्नेहमयी,

निज ज्ञान में सन्देह न करने से वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता स्वतः मिट जाती है और विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर आत्मीयता स्वीकार करने पर प्रीति स्वतः जागृत होती है। इस दृष्टि से निज ज्ञान निर्विकार जीवन से और आत्मीयता प्रीति से अभिन्न करने में समर्थ है। निर्विकार जीवन और प्रीति ही मानव की माँग है, अथवा यों कहो कि मानव की निर्विकारता तथा प्रीति से ही जाति तथा स्वरूप की एकता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

७६

जयपुर
६-८-५७

दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

......आयु निरन्तर घट रही है, यह बात सभी साधकों को ज्ञात है, पर इसका प्रभाव उन्हीं साधकों के जीवन पर होता है, जो नित्य प्राप्त को वर्तमान में ही प्राप्त कर कृतकृत्य होना चाहते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि विवेक-दृष्टि से प्राप्त कभी भी दूरी नहीं है और अप्राप्त से कभी भी एकता नहीं है। जिससे एकता नहीं है वही कालरूपी अग्नि में जल रहा है। अथवा यों कहो कि जिससे असंग होना है, वही मृत्यु की खुराक है। ऐसी दशा में मृत्यु का ज्ञान क्या अमरत्व से अभिन्न करने में साधन-रूप नहीं है? अवश्य है। मृत्यु के ज्ञान में ही अमरत्व की मांग और अमरत्व की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से वे साधक बड़े ही भाग्यशील हैं, जिन्हें मृत्यु का ज्ञान स्पष्ट हो रहा है। मृत्यु जिसकी हो रही है वह तुम नहीं हो, तुम तो अनन्त की प्रीति हो। प्रीति ने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया, तो फिर वास्तविकता के सम्मुख होने का प्रश्न ही कहाँ शेष रहता है!

देह की दुर्बलता भी देह की वास्तविकता के ज्ञान में साधन-रूप है। मिले हुए के सदुपयोग का नाम ही साधन है। जो नहीं हो सकता, उसे करना ही नहीं है। जो हो सकता है, उसे पूजा-बुद्धि से कर डालना है। सच्चे आस्तिक की दृष्टि में

करना और न करना समान अर्थ रखता है। न करने का दुःख और करने का सुख मन से सदा के लिए निकाल दो, अर्थात् बे-मन की होकर सर्वदा शान्त एवं प्रसन्न रहो—यही सफलता की कुंजी है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। •

तुम्हारा

....

७७

पुष्कर
२५–८–५७

प्रीति स्वरूपा, दिव्य-ज्योति बेटी,

सदैव अनन्त की प्रीति होकर रहो।

समस्त सृष्टि में कोई एक ही है। इस कारण उसकी प्रत्येक वस्तु एक है। प्रीति तथा देश की दृष्टि से समस्त सृष्टि एक है, भिन्नता केवल साधन में है निज विवेक ही अपना अनुपम विधान है। प्राप्त परिस्थिति ही सुन्दर साधन-सामग्री है। जिस मंगलमय विधान से परिस्थिति निर्मित है, वह सभी के लिए सर्वदा हितकर है। तो फिर भय तथा चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है ? मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु के सदुपयोग में पराधीनता कहाँ है ? पराधीनता तो केवल फलासक्ति में है। अथवा जो नहीं कर सकते हैं उसके सोचने में है। जो कर सकते हैं, उससे अपने को न बचायें—यही परम पुरुषार्थ है। प्रत्येक कार्य उनकी पूजा बन जाय। बस, यही आस्तिकता है।

उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही आस्तिक का अपना बल है, और उनका सरल विश्वास ही अपना धन है तथा उनकी प्रीति ही अपना जीवन है। मानव-जीवन का महत्व मत भूलो। परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता में समान बुद्धि रखो। प्रत्येक मानव, मानव होने के नाते बड़े ही महत्व का है। पर कब? जब किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, पद आदि के आधार पर अपना मूल्यांकन न करे। प्रत्येक वस्तु उन्हीं की है, जिनकी सारी सृष्टि है। जब प्राप्त में ममता और अप्राप्त की चाह नहीं रहती, तब निर्भयता तथा निश्चिन्तता अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही परिस्थिति का सदुपयोग स्वतः होने लगता है, यह निर्विवाद सत्य है।

शरणानन्द की खोज में किसी को किसी के पदचिन्हों पर नहीं चलना है, अपितु निज विवेक के प्रकाश में ही रहना है। व्यक्तियों की सेवा तथा वस्तुओं का सदुपयोग भले ही साधन-रूप हो, किन्तु वस्तु तथा व्यक्तियों की दासता का साधन में कोई स्थान नहीं है। विश्वास करने योग्य केवल वे ही हैं, जिनको जानते नहीं हैं, सुना है और करने योग्य प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग है। जानने योग्य केवल 'मैं' ही है। इन तीनों में से कोई भी एक बात पूरी कर दी जाय, तो अन्त में तीनों ही एक हो जाती हैं। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की दिव्य चिन्मय प्रीति हो। अविवेक के कारण प्राणी अपने को असमर्थ मान लेता है। विवेक का आदर करते ही पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है। वस्तु तथा व्यक्ति में न तो विश्वास ही रहता है न सम्बन्ध ही, किन्तु वस्तु का सदुपयोग तथा व्यक्तियों का आदर स्वभाव से ही होने लगता है। वस्तु तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध ने ही मानव को मानव नहीं रहने दिया।

मानव. मानव हुए बिना न तो तत्वज्ञ ही हो सकता है न प्रेमी ही और न कर्तव्य परायणता ही आती है। मानव होते ही सब कुछ हो सकता है। अतः तुम मानव के महत्व को मत भूलो। जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

७८

पुष्कर
१-९-५७

प्रीति स्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

पत्र न मिलने से घबराती हो। इस दृष्टि से तो पत्र-व्यवहार एक नवीन बन्धन का हेतु बन गया। क्या तुम यह नहीं जानती कि जो दशा पत्र लिखते समय होती है, वह दशा पत्र पहुँचते समय तक रहेगी,—क्या यह बात सन्देह रहित है? कदापि नहीं। पत्र का मिलना भूतकाल की चर्चा है, और कुछ नहीं। शान्ति-भंग कभी किसी आवश्यक कार्य करने से नहीं होती। शान्ति-भंग होती है अनावश्यक कार्य के चिन्तन से, और आवश्यक कार्य के न करने से अथवा फलाशक्ति से। सही कार्य करना राग-निवृत्ति का साधन है अथवा अपने प्यारे की पूजा है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

७९

यात्रा में
११-१०-५७

प्रीति स्वरूपा, दिव्य ज्योति, दुलारी बेटी,

प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा अपने प्यारे की पूजा करो। सब कुछ देकर जो बन्धन लिया जाता है, वह है प्रीति; जो वास्तव में तुम्हारा स्वरूप है। तुम उसे भूल जाती हो और अपने को देह मानकर सुख-दुख के जाल में फंस जाती हो और घबड़ाने लगती हो। मानव सेवा संघ और सत्संग तुम्हें अपने प्यारे के नाते प्यारे हैं, इसी कारण तुम्हें लिखा था परिस्थितियों से घबड़ाना परिस्थितियों की दासता सिद्ध करता है, और कुछ नहीं। अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही साधन-रूप हैं। उन दोनों ही में अपने प्यारे ही का दर्शन करो। देखो रानी, और कोई है ही नहीं। तो फिर सदा के लिए उन्हीं में अपने मन को लगा दो और बे-मन की होकर अपने वास्तविक दिव्य-चिन्मय रूप को प्राप्त कर उनकी प्रीति हो जाओ, जिससे उन्हें रस मिले। उन्होंने अपने रस की उपलब्धि के लिए ही मानव का निर्माण किया है। मानव ही भोग और मोक्ष की कामना से रहित होकर प्रेम प्राप्त कर सकता है, जिसकी उन्हें माँग है। प्रीति किसी कर्म और अभ्यास से प्राप्त नहीं होती, अपितु आत्मीयता से प्राप्त होती है जो विश्वास से सिद्ध है। जिसने एक बार 'मेरे नाथ' कह दिया, बस, प्रीति प्राप्त हो गई।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।
पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।
..................ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

८०

वृन्दावन
१३-१०-५७

देहातीत दिव्य ज्योति, दुलारी बेटी,
सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

निश्चिन्तता तथा निर्भयतापूर्वक वर्तमान कर्तव्य कर्म द्वारा अपने प्रेमास्पद की पूजा करती रहो। प्रवृत्ति में सुख का भोग और निवृत्ति में आलस्य का भोग असाधन है। अधिकार-लालसा से रहित निवृत्ति और दूसरों के अधिकारों की रक्षा में प्रवृत्ति साधन-रूप है। फलासक्ति प्रवृत्ति को दूषित करती है। फलासक्ति का अन्त होते ही साधक अधिकार-लालसा से मुक्त हो जाता है। अधिकार-लालसा से मुक्त होते ही राग तथा क्रोध का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही स्वाधीनता तथा स्मृति स्वतः उदय होती है, जो साधक को साध्य तत्त्व से अभिन्न करने मे समर्थ है। जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।
ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

८१

पाली
२१-९-५७

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय होकर प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा, श्रद्धापूर्वक, अपने प्यारे की पूजा करती रहो। आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो। यदि अपने आप होने लगे, तो उससे असहयोग कर लो। सुख की आशा से रहित होते ही परिस्थिति के अनुरूप पूजा करने की सामर्थ्य अपने आप आ जायगी। मान तथा भोग की रुचि ने ही प्राणी को असमर्थ कर दिया है।

तुम्हारा
....

८२

धौलपुर
११-११-५७

देहातीत दिव्य ज्योति,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

संघ का दर्शन मानव का अपना दर्शन है। जो अपनी ओर देखता है वही संघ के दर्शन से परिचित हो जाता है। संघ किसी को कोई ऐसी बात नहीं बताता जो उसकी अपनी बात नहीं है। उनकी महिमा में अविचल श्रद्धा उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कराने में समर्थ है और सम्बन्ध की स्वीकृति उनकी

मधुर स्मृति का प्राकट्य करने में हेतु है। प्रिय की मधुर स्मृति ही प्रिय को रस देने में समर्थ है।

जिओ जागो, सदा आनन्द रहो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

८२

नई दिल्ली
११-११-५७

देहातीत दिव्य ज्योति,

प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा अपने प्यारे की पूजा करती हुई सर्वदा उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो। प्रिय की स्मृति प्रिय के समान ही रसरूप है और उनकी स्मृति को सजग बनाए रखने के लिए ही कर्तव्य-कर्म द्वारा पूजा करना है। जिसे तुम स्थूल कार्य तथा जगत्-व्यवहार कहती हो, वही तो उनकी पूजा है। पूजा में पुजारी का खो जाना तो पूजा की सफलता है। फिर न जाने तुम क्यों भयभीत होने लगी हो।

हाँ! एक बात अवश्य है कि यदि पुजारी पूजा के अन्त में प्रिय की मधुर स्मृति न हो जाय, तब सोचने की बात है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

८४

वृन्दावन
१५-१०-५७

देहातीत, दिव्य ज्योति,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो और प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की ही अनुपम लीला का दर्शन करो। उनके रंग-मंच पर जो अभिनय मिला है उसे इतनी सुन्दरतापूर्वक करो कि करने का राग सदा के लिए मिट जाय और तुम दिव्य चिन्मय प्रीति से अभिन्न होकर अपने प्यारे को रस देने में सर्वदा तत्पर बनी रहो। प्रीति से अभिन्न होने के लिए स्वाधीनता के महत्व को न्यौछावर करना पड़ता है। केवल दुःखों की निवृत्ति और निर्विकार जीवन की प्राप्ति तो निराश्रय, अर्थात् वस्तु, अवस्था, व्यक्ति आदि के आश्रय के त्यागमात्र से ही हो सकती है और अविनाशी पद तथा अखण्ड रस की प्राप्ति तो स्वाश्रय से हो सकती है, किन्तु अनन्त को नित-नव रस प्रदान करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि निर्विकारता तथा अविनाशी पद में सन्तुष्ट न रह कर दिव्य चिन्मय प्रीति से अभिन्नता प्राप्त कर ली जाय, क्योंकि प्रीति से ही वास्तविक एकता है। यद्यपि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है, परन्तु प्रीति होकर ही प्रीतम को रस दिया जा सकता है। उसके लिए अपने को प्रीति स्वीकार करना ही सहज सुगम साधन है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

८५

वृन्दावन

२-११-५७

देहातीत दिव्य ज्योति,

प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की अनुपम लीला का दर्शन करते हुए उन्हीं की प्रीति होकर रहो। उनके मिलने का तरीका अपने खो जाने में है। यदि तुम खोई-खोई सी रहती हो, तो बड़े ही हर्ष की बात है। जो कुछ हो रहा है, वही ठीक है। उसी में सभी का हित निहित है। अन्तिम मूल्य चुकाने के लिए अहंरूपी अणु का अन्त करना है। वह तभी होगा जब जाने हुए असत् का त्याग कर सत्य का संग हो जाय। यद्यपि सत् अपनी ओर से सभी को सर्वदा प्राप्त है, किन्तु असत् का आकर्षण, प्राप्त सत् का अनुभव नहीं होने देता। असत्, सत् की सत्ता से ही प्रकाशित है, उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत् सर्वदा असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं। सत् की उत्कट लालसा ही एक-मात्र असत् की नाशक है। कामना-पूर्ति के प्रलोभन ने सत् की लालसा को शिथिल बनाया है, मिटाया नहीं। क्योंकि सत् की लालसा सत् के समान ही सत् है, अतः उसका नाश हो ही नहीं सकता। यह नियम है कि जिसका नाश नहीं हो सकता, उसकी पूर्ति अनिवार्य है। इस नियम के अनुसार जब साधक यह स्वीकार कर लेता है कि सत् की उपलब्धि वर्तमान की वस्तु है, तब सत् की उत्कट लालसा स्वतः जागृत होती है, जो असत् से सम्बन्ध-विच्छेद कर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सत् की लालसा ही सत् की प्राप्ति की

वास्तविक साधना है। यही अन्तिम मूल्य है, जिसके चुकाने में मानव-मात्र स्वाधीन तथा समर्थ है।

अहंरूपी अणु सुख तथा दुःख दोनों ही से आश्रय पाता है। इस कारण सुखियों तथा दुःखियों दोनों ही को अन्तिम मूल्य चुकाना समान ही रहता है। दुःखी को सहज और सुखी को कठिन हो, ऐसी बात नहीं है। जब साधक सुख में दुःख का दर्शन नहीं कर पाता तब उसके हित के लिए दुःखमय परि-स्थिति आती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि दुःखमय परि-स्थिति के सदुपयोग में भी साधक को हिचक होती है। उसको सहन करने में कोई विशेष हित नहीं होता। हित होता है दुःख का पूरा प्रभाव हो जाने में। दुःख का पूरा प्रभाव सुख में भी दुःख का दर्शन करा देता है। सुख में दुःख का दर्शन कराने पर बेचारा दुःख अपने आप चला जाता है। इतना ही नहीं, दुःख के स्वरूप में तो अपने प्यारे ही आते हैं। पर इस रहस्य को कोई विरले ही जान पाते हैं। सुख के प्रलोभन ने ही हमें अपने प्रिय से विमुख किया है। दुःख का प्रभाव होने पर ही सुख का प्रलोभन मिटता है। इस दृष्टि से दुःख, सुख की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की वस्तु है।

अहंरूपी अणु का अन्त करने पर ही संघ-संदेश विभु हो सकता है। कुएँ से पानी खींच कर कितनी भूमि सींची जा सकती है! यदि सभी भूमि को सीचना है, तो बादल बनकर बरसना होगा। इसी प्रकार अहंरूपी अणु का नाश करके स्नेह की एकता को व्यापक करना होगा। बाह्य उपचार तो कूप से जल खींचने के समान है। भावना को सजीव बनाने के लिए सीमित कार्यक्रम साधन-रूप है, किन्तु अहं का नाश किए बिना संघ का संदेश विभु नहीं हो सकता। इसी पवित्रतम

कार्य के लिए तुम्हें मानव-जीवन मिला है। तुम्हारा जीवन और संघ दो नहीं हैं। तुम जितनी सुन्दर होती जाओगी, उतना ही संसार सुन्दर होता जायगा।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

८६

नई दिल्ली

२६-११-५७

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को कभी देखा ही नहीं। इस कारण प्रीति से अभिन्न होने पर ही दूरी तथा भेद का नाश हो सकता है। किन्तु दूरी तथा भेद न रहने पर भी प्रीति कभी भी प्रीतम को सर्वांश में जान नहीं पाती, क्योंकि प्रीति-निर्मित दृष्टि नित नूतनता का अनुभव कर सदैव अपने को न्योछावर करती रहती है। तभी तो मिलन में वियोग और वियोग में मिलन की दशा रहती है। श्रम-रहित हुए बिना सामर्थ्य की

अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना स्वाधीनता नहीं आती और स्वाधीनता को समर्पित किए बिना प्रीति की अभिव्यक्ति नहीं होती। स्वाधीनता देकर जो पराधीनता अपनाई जाती है वही प्रीति को पुष्ट करती है। यद्यपि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और कुछ नहीं, परन्तु अधिकार-लालसा की मलिनता ने प्रीति से विमुखता कर दी है। अधिकार देने में तो पराधीनता नाश होती है और अधिकार-त्याग से स्वाधीनता प्राप्त होती है। अधिकार देकर अधिकार-लालसा से रहित होने पर ही कर्तव्य-परायणता में पूर्णता होती है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। करने के राग से रहित होते ही स्वतः विश्राम प्राप्त होता है, जिसके मिलते ही समस्त विकास स्वतः होने लगते हैं। जिन साधकों के जीवन में दुःख का पूरा प्रभाव हुआ है, वे बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख की दासता से मुक्त हो गये। सुख-दुःख का भोग तो पशु-पक्षी भी करते हैं, किन्तु सुख का सदुपयोग और दुःख का पूर्ण प्रभाव केवल मानव-जीवन में ही हो सकता है। दुःख का प्रभाव सुख की दासता को खाकर दुःख के भय से मुक्त कर देता है और दुःख का भोग बेचारे दुःखी को व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध कर साधन से विमुख कर देता है। दुःख के प्रभाव से तो साधन की अभिव्यक्ति होती है और दुःख के भोग से असाधन की उत्पत्ति होती है। असाधन का त्याग किये बिना न तो साधन में सजीवता ही आती है और न साधन से साधक की अभिन्नता ही होती है। बीज रूप से असा-धन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन कालान्तर में भले ही फलित हो, क्योंकि जो कुछ किया जाता है उसका फल अवश्य बनता है, किन्तु असाधन का त्याग किये बिना न तो साधन में स्वाभाविकता ही आती है और न साधन-तत्त्व से

अभिन्नता ही होती है। इस कारण असाधन के त्याग में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है। असाधन का त्याग वर्तमान की वस्तु है। वस्तु-विश्वास ही समस्त असाधनों का मूल है। उसका त्याग होते ही निर्विकारता तथा प्रिय-विश्वास स्वत: हो जाता है। प्रिय-विश्वास में ही उनका सम्बन्ध तथा मधुर स्मृति निहित है। स्मृति अभ्यास नहीं है, वह की नहीं जाती, होने लगती है। उनकी स्मृति ही उनको रस देती है। उनके रस में ही प्रेमी का जीवन है। रस वही देता है, जो स्वयं भोक्ता नहीं है, अपितु प्रीति होकर प्रीतम की भोग्य है। जो जिसकी भोग्य है वह उसे अत्यन्त प्रिय है। भला, जो अनन्त की प्रिय है, उसके सौभाग्य की सराहना कौन कर सकता है !

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुन: तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

८७

इलाहाबाद
२२-२-५८

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग में ही चिरशान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है—दायित्व पूरा करते ही आवश्यकता की पूर्ति स्वाभाविक है। मिले हुए का सदुपयोग, जाने हुए का प्रभाव एवं सुने हुए प्रभु में अविचल श्रद्धा ही वास्तविक साधन है। कर्तव्य-परायणता से चिर-शान्ति, असंगता से स्वाधीनता एवं आत्मीयता में ही परम प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है। जिओ, जागो, आनन्दित रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

८८

गीता भवन
११-४-५८

देहातीत दिव्य ज्योति प्रीति स्वरूपा, दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा और विश्वनाथ की प्रीति होकर रहो।

मूक सत्संग चिर विश्राम है; कर्तव्य-परायणता, असंगता एवं शरणागति का फल है, अथवा यों कहो कि अचाह तथा आत्मीयता की दृढ़ता में ही चिरविश्राम है। पूजा-कार्य के आदि और अन्त में स्वतः विश्राम मिलता है और सामर्थ्य, विचार तथा विरह

की जागृति स्वतः होती है। पूजा के अतिरिक्त कुछ भी करने की बात नहीं है। शरीर कितना ही बड़ा हो पर तुम तो सदैव एक-सी हो। अनन्त की प्रीति, अनन्त की दृष्टि से नित-नव है। प्रीति-निर्मित चपलता प्रियतम को रस देती है। तुम किसी भी काल में शरीर, व्यक्ति आदि नहीं हो, वरन् प्रीति-निर्मित निर्मल धारा हो; क्षति, पूर्ति, निवृत्ति से रहित हो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

८९

देहरादून

४-७-५८

देहातीत दिव्य-ज्योति,

सदैव शान्त तथा प्रसन्न रहो।

जो कुछ स्वतः हो रहा है उसमें अपने हित का ही दर्शन करना है। प्रेमीजन सब कुछ प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ ही करते हैं और उनके जीवन में निरन्तर प्रेमास्पद की ही प्रतीक्षा रहती है। इतना ही नहीं, उनके मन में किसी और के लिए ठौर ही नहीं रहता, अथवा यों कहो कि उनकी दृष्टि में कोई और रहता ही नहीं। किसी और की प्रतीति प्रीति का अधूरा-पन है। सच तो यही है कि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न कभी और को देखा ही नहीं। किसी-किसी प्रेमी ने तो प्रेमास्पद को पूरा देख ही नहीं पाया। देखने की उत्कट लालसा में ही अपने को भूल गया। किसी-किसी प्रेमी के पास तो मन ही नहीं रहा। बे-मन का जीवन प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करने में

समर्थ है। उनके वियोग तथा संयोग में प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। जीवन प्रीति ही में निहित है। निष्कामता की भूमि में सेवारूपी बेल लहलहाती है और उसी में प्रीतिरूपी फल लगता है। इस दृष्टि से निष्कामता, सेवा तथा प्रेम ही में जीवन निहित है। अनेक रूपों में अपने प्यारे को लाड़ लड़ाती हुई उन्हें सर्वदा रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्-भावना है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

९०

लखनऊ

१४-७-५८

प्रीति-स्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अपने प्यारे को लाड़ लड़ाती हुई मस्त रहो।

प्रत्येक घटना में उन्हीं की अनुपम लीला का दर्शन करो। अनेक वेषों में अपने प्यारे को ही पाकर विधिवत् पूजा करती रहो। जब सब कुछ उन्हीं का है तो उसी के द्वारा उनकी स्तुति करो। स्तुति उपासना सिद्ध करने में समर्थ है। उनकी आत्मीयता ही उन्हें रस प्रदान करती है। अपने में अपना कुछ नहीं है, किन्तु वे अपने अवश्य हैं। यद्यपि प्रीति उन्हीं का स्वभाव है, परन्तु फिर भी उन्हें प्रीति ही से रस मिलता है।

उनकी अहैतुकी कृपाशक्ति ने ही तुम्हारा निर्माण किया है। अतः सदैव उन्हें रस प्रदान करती रहो।

जिओ, जागो, सदा आनन्दित रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

८१

बनारस

२४-७-५८

प्रीति-निर्मित दिव्य ज्योति,

सदैव अनन्त को रस प्रदान करती रहो।

प्यारे की जैसी मौज है, उसी में आनन्द है। जो नहीं हो सकता उसका करना आवश्यक नहीं है। करना उसी का आवश्यक है जो हो सकता है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाली निवृत्ति में ही प्रिय की मधुर स्मृति सबल तथा स्थायी होती है। प्रिय की मधुर स्मृति स्वभाव से ही प्रिय को रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है। रोग के स्वरूप में अपने ही प्यारे हैं और कोई नहीं। जिस वेष में आए हैं उसी के अनुरूप पूजा करना है। देह की वास्तविकता का स्पष्ट बोध बना रहे, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने रोग का वेष बनाया है। प्रत्येक घटना में उनकी अहै-

तुकी कृपा तथा करुणा का 'दर्शन करना है। प्रेम-निर्मित दृष्टि स्वभाव से ही प्रेमास्पद पर ही लगी रहती है। तभी परस्पर में रस का आदान-प्रदान होता रहता है। प्रिय को रस देने में ही अपना रस है। साधन-जनित सुख का भोग न होने पर साधन स्वतः साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है। अचाह-पद की अभिव्यक्ति होते ही असाधन का नाश हो जाता है और आत्मीयता की अभिव्यक्ति में ही समस्त साधनों का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। उनकी दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से उन्हीं की पूजा करते हुए उन्हीं की प्रीति होकर रहो, जो वास्तव में तुम्हारा स्वरूप है।

मोहयुक्त उदारता और क्रोधयुक्त त्याग कर्तव्य-पालन में बाधक है, असाधन है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

९२

बनारस

३०-७-५८

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन कर उन्हीं की अखण्ड मधुर स्मृति होकर रहो। इसी में जीवन की सार्थकता निहित है। रोग प्राकृ-

तिक तप है। रोगावस्था में शान्त तथा प्रसन्न रहना अनिवार्य है। प्राणशक्ति सबल होने पर प्रत्येक रोग स्वतः नष्ट हो जाता है। चित्त में प्रसन्नता तथा हृदय में निर्भयता रहने से प्राण-शक्ति सबल हो जाती है। देह की वास्तविकता का बोध कराने के लिए और अनेक रूपों में प्रेमास्पद स्वयं सेवा करने के लिए रोग के स्वरूप में अभिनय कर रहे हैं। विवेक दृष्टि से रोग राग का परिणाम है। राग का अन्त करने के लिए ही रोग प्रगट हुआ है। इस सुनहरे अवसर को पाकर तुम्हें सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहना है। तुम्हारी प्रसन्नता से ही प्रेमास्पद को प्रसन्नता होगी। अनेक वेषों में जब उन्हें पहचान लोगी तब वे स्वतः उस वेष में प्रगट होंगे जो तुम्हारे लिए सर्वदा रस-रूप होगा।

प्रतिकूलताएँ अनुकूलता की दासता का नाश करने के लिए ही आती हैं। उनसे डरो मत, अपितु उनका आदरपूर्वक स्वागत करो। सुख का राग नष्ट करने के लिए ही दुःख प्रगट होता है। दुःख सजगता प्रदान करने में समर्थ है। दुःख का प्रभाव वस्तुओं के स्वरूप का बोध कराने में हेतु है। इस दृष्टि से दुःख मानव-जीवन का आवश्यक अंग है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

९३

वृन्दावन
१९-११-५८

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो सदा आनन्द रहो।

जिन्होंने सद्भावपूर्वक प्रेमास्पद से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और विवेकपूर्वक शरीरादि वस्तुओं की ममता का त्याग कर दिया उनके लिए प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है। वे प्रीति होकर अपने प्रीतम को रस देते हुए अपने प्यारे की अनुपम लीला का निरन्तर दर्शन करते हैं। उनके जीवन में मोह तथा शोक की गन्ध तक भी शेष नहीं रहती। उन्हीं का जीवन धन्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

९४

वृन्दावन
२५-११-५८

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। प्रेमास्पद अपनी ही उदारता से प्रेरित होकर प्रेमियों को अपने लिए उपयोगी बना

देते हैं। इसी कारण प्रेमीजन अपने में अपना कुछ नहीं पाते। प्रेम प्रेमास्पद की ही देन है। अपनी दी हुई प्रीति के हाथ बिक जाना ही प्रीतम का स्वभाव है। प्रीति में ही प्रीतम का निरन्तर वास है। प्रीति समस्त सीमाओं को पार करती हुई अनन्त से अभिन्न हो जाती है। प्रीति ने प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार नहीं की और न कभी तृप्त होकर प्रीतम से भेंट ही की। नित्य मिलन और नित्य वियोग ही प्रीति की रीति है। अपने सहित सब कुछ देकर ही प्रीति से अभिन्नता होती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

८५

इलाहाबाद

१६-१-५६

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

करुणा और दुःख में अन्तर क्या है, इसपर विचार करो। करुणा सुख-भोग की रुचि का नाश कर देती है और दुःख क्षोभित कर सुख की आशा में आवद्ध कर देता है; अर्थात दुःखी को सुख का चिन्तन होता है और करुणित प्राणी सेवा करते हुए दुःखी प्राणियों को कर्तव्यनिष्ठ देखने का प्रयास करता है। तभी उसके हृदय में बार-बार यही भावना उदित होती है कि प्यारे प्रभु उनको त्याग का बल दें। ममता-रहित उदारता भी त्याग को पोषित करती है, परन्तु ममतायुक्त उदारता देने

वाले में अभिमान और लेने वाले में लोभ तथा अधिकार-लालसा को जन्म देती है, जिसकी पूर्ति-अपूर्ति में असाधन ही उत्पन्न होता है।

किसी की उदारता से किसी की दरिद्रता का नाश नहीं होता। अपने-अपने कर्तव्य में ही अपना-अपना विकास है। ममता के नाश के लिए ही सेवा की जाती है और अहं तथा मम का अन्त करने के लिए ही त्याग अपनाया जाता है। विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति में सेवा और त्याग साधन-रूप है, अर्थात सेवा और त्याग के द्वारा जो मिलना चाहिए वह स्वतः मिलता है। जब-जब दुखियों की गाथा सुनकर दुःख हो, तब-तब यही भावना हो कि हे प्यारे, क्या आप इस नीरस हृदय को करुणा का रस देना चाहते हैं। कहीं नीरसता को सज्जनता के अभिमान में मत बदल देना।

प्रवृत्ति बढ़ने से यदि विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम में क्षति होती है, तो यह पूजा की वास्तविक भावना नहीं है। पूजा का भाव प्रीति को पुष्ट करता है। सही काम में विश्राम निहित है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

... .

९६

प्रयाग
१८-१-५९

चिन्मय-धाम-निवासिनी, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

जाने हुए का प्रभाव किये हुए के राग को खाकर साधक को निर्मल बना देता है। निर्विकारता की अभिव्यक्ति शान्ति तथा स्वाधीनता से अभिन्न कर देती है, परन्तु प्रेमीजन न तो गुणों का ही भोग करते हैं, न चिरशान्ति में ही रमण करते हैं और न स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट रहते हैं, अपितु दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न होने पर भी अपने प्यारे की प्रीति होकर रहने में ही अपना सर्वस्व जानते हैं। प्रीति और प्रियतम दोनों ही का स्वरूप एक है। प्रेमास्पद प्रेम से परिपूर्ण होने पर भी प्रेम के भिखारी हैं, अथवा यों कहो, पुजारी हैं। प्रेम ही उन्हें रस देने में समर्थ है और वही तुम्हारा निज-स्वरूप है। सुने हुए प्रेमास्पद में अविचल श्रद्धा तथा विश्वास एवं उनकी आत्मीयता ही आस्तिक की वास्तविक साधना है।

जाने हुए का प्रभाव अहंता और ममता के विनाश में हेतु है। अहंता और ममता का नाश चिरशान्ति तथा स्वाधीनता से अभिन्न करने में समर्थ है। जाने हुए जगत की ममता का त्याग और सुने हुए प्यारे प्रियतम में आत्मीयता ही समस्त साधनों का मूल है। विचार और विश्वास का प्रभाव होने पर मिले हुए का सदुपयोग, वर्तमान कर्तव्य-कर्म के स्वरूप में, अपने प्रियतम की पूजा स्वतः होने लगती है। पूजा आदर-

प्यार तथा निष्कामता की जननी है। निष्कामता में ही प्रीति पोषित होती है। प्रीति और प्रियतम की नित-नव लीला परस्पर में रस प्रदान करने में हेतु है। रस की माँग ही जीवन की माँग है। रस देने में ही रस की वृद्धि है। रस की वृद्धि में ही रस का दान है। रस के आदान-प्रदान में ही वास्तविक जीवन है।

पुजारी पूजा के बदले में प्रीतम की प्रीति ही माँगता है। सब कुछ प्रीति से अभिन्न होने के लिए ही किया जाता है। राग-निवृत्ति में ही प्रीति की अभिव्यक्ति निहित है।

सेवा विद्यमान राग को खाकर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होने देती। यही सेवा की महिमा है। सेवा की वास्तविकता करुणा और प्रसन्नता में निहित है। वस्तुओं का देना अथवा न देना विधान के अधीन है। जिसका लेना है उसे देना ही होगा। जिसका लेना समाप्त हो गया उसे कोई दे ही नहीं सकता। इस दृष्टि से देने तथा न देने की कल्पना ही कुछ अर्थ नहीं रखती।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

९७

वृन्दावन
२०-१-५६

प्रीति-स्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,
सर्वदा अनन्त को रस प्रदान करती रहो ।

तुम्हारे द्वारा जो सेवा हुई है उसके लिए तो मेरा हृदय ऋणी है । अस्वस्थ अवस्था में अथक प्रयास द्वारा तुमने संघ को जो साहित्य दिया है, वह भूरि-भूरि सराहनीय है । इसके अतिरिक्त मेरी सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि जो साधक वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा प्यारे प्रभु की पूजा कर उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है । जिसने जाने हुए असत् के त्याग द्वारा असाधन का अन्त कर साधन-परायणता प्राप्त की, उसने तो मेरी बड़ी ही सेवा की है । जो अपने लिए तथा जगत के लिए एवं प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी है, वही मुझे परम प्रिय है ।

अब रही दुःख की बात, सो उसका तो मैं सदैव पुजारी रहा हूँ । सच तो यह है कि यदि मैं किसी के प्रति उपकार नहीं कर सका हूँ तो वह मेरा प्यारा 'दुःख' ही है । दुःख से मुझे सब कुछ मिला है । पर मेरे द्वारा दुःख की कोई सेवा नहीं हुई । जब-जब दुःख की महिमा पर विचार करता हूँ तब-तब ऐसा ही मालूम होता है कि प्यारे दुःख ने ही मुझे दुःखहारी से मिलाया है । दुःख के प्रभाव ने ही सुख की दासता से मुक्त किया है । सुख की दासता के नाश में ही स्वाधीनता निहित है । स्वाधीनता ही दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है ।

उत्पन्न हुई, परिवर्तनशील, परप्रकाश्य वस्तुओं की ममता के त्याग में भी प्यारे दुःख का ही पूरा-पूरा हाथ है। **दुःख का प्रभाव साधन और दुःख का भोग असाधन है।** जिन साधकों को सचमुच मेरी सेवा करनी अभीष्ट है, वे साधन-तत्व से अभिन्न होकर साध्य को नित-नव-रस प्रदान करें और प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता एवं परम प्रेम की प्राप्ति में ही मेरी वास्तविक सेवा का अनुभव करें। करुणा और प्रसन्नता तो साधक का स्वभाव ही है, पर सुख-लोलुपता तथा मोह का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

... .

६८

प्रयाग

२६-१-५६

चिन्मय धाम निवासिनी, अवस्थातीत दिव्य-ज्योति,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

किसी की उदारता को अपना गुण नहीं मानना चाहिये। सरल विश्वास एवं सहज प्रीति प्रीतम की ही देन है। अनेक रूपों में उन्हीं की महिमा का दर्शन करना है। सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है। यह आस्तिक का स्वभाव है। वर्त-

मान कर्तव्य-कर्म द्वारा अपने प्यारे को लाड़ लड़ाते हुए सदैव उन्हीं की प्रीति होकर रहो— यही मेरी सद्‌भावना है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

८८

बलिया

७-२-५६

चिन्मय धाम निवासिनी दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो और विश्व के स्वरूप में अनेक भाव तथा अनेक प्रकार से क्रियात्मक रूप में उन्हीं को लाड़ लड़ाओ। प्रत्येक प्रवृत्ति प्रिय की पूजा है। प्रवृत्तियों के अन्त में स्वतः मधुर स्मृति जागृत रहे। जब क्रियाशीलता भाव में विलीन हो जायगी, तब प्रवृत्ति के अन्त में मधुर स्मृति स्वतः जागृत होगी, यह निर्विवाद सत्य है।

सन्तुलन सुरक्षित रखने के लिए कर्म-भेद में भी प्रीति की तथा लक्ष्य की एकता सुरक्षित रखना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

आपका

....

१००

इन्दौर

२५-२-५६

देहातीत प्रीति स्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य द्वारा अपने प्रेमास्पद की पूजा करती हुई उन्हीं की मधुर स्मृति होकर उन्हें सर्वदा रस प्रदान करती रहो। प्रिय की मधुर स्मृति प्रिय को रस प्रदान करती है। प्रिय की मधुर स्मृति में ही अन्य की विस्मृति निहित है। प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नहीं।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१०१

इन्दौर

२८-२-५६

चिन्मय-धाम-निवासिनी दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

इन्द्रिय-ज्ञान की सत्यता, जो वास्तव मे अल्प है अर्थात् अधूरा ज्ञान है अनन्त की अहैतुकी कृपा में विकल्प करता है। प्रतीति जब जैसी हो तब तैसी मानो। सत्तारूप से तो सर्वदा

सर्वत्र अपने ही प्यारे हैं और तुम उनकी नित्य प्रिया अर्थात् प्रीति हो। प्रीति और प्रीतम से भिन्न किसी भी काल में कुछ है ही नहीं। प्रीति के अनुरूप ही प्रीतम लीला करते हैं, और लीला के अनुरूप ही प्रीति अभिनय करती है। प्रीति और प्रीतम का नित-नव विहार सर्वदा रसरूप ही है।

मन की निर्विकल्पता तथा बुद्धि की समता स्वाभाविक हो जाने पर स्वतः अवस्थातीत चिन्मय जीवन में प्रवेश पाने की सामर्थ्य आ जाती है। जब तक समता में स्थाई निवास नहीं होता तब तक ही अनन्त की अनुपम लीला में विकल्प रहता है। समता समस्त दृश्य को विलीन कर प्यारे की अनुपम लीला में प्रवेश कराती है। निष्कामता समता को प्रदान करती है। वर्तमान कर्तव्य कर्म द्वारा पूजा निष्कामता को पुष्ट करती है। तुम किसी भी काल में शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि नहीं हो तो फिर बुद्धि आदि के निर्णय के अधीन क्यों हो जाती हो। तब ही न विकल्प होता है! समस्त विश्व चिन्मय तत्व के ही आश्रित है। उसमें उसी की सत्ता है। जब तत्व पर दृष्टि रहती है तब प्रतीति का प्रभाव स्वतः ही मिट जाता है, जिसके मिटते ही समस्त विकल्प निर्विकल्पता में विलीन हो जाते हैं।

सहज भाव से पूजा करती हुई प्रीति को जागृत होने दो। अनन्त की अहैतुकी कृपा स्वतः प्रिय के अनुकूल बना देगी। यह निर्विवाद सत्य है।

सत्संग के समान कोई अन्य स्वतन्त्र साधन है ही नहीं। सत्य का संग असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न कर देता है। असत्य के त्याग में ही असाधन का अन्त और साधन की अभिव्यक्ति निहित है। कभी-कभी असाधन-जनित भूतकाल की स्मृ-

तियाँ साधन की अभिव्यक्ति में विकल्प करने लगती हैं। विचार-शील साधक उस विकल्प को अस्वीकार कर देते हैं। पर यह रहस्य कोई विरले ही जानते हैं। जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार। ●

तुम्हारा

....

१०२

बम्बई

११-३-५६

दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

कार्य का अधूरापन विश्राम में बाधक है। कार्य ठीक करे, फलाशक्ति न रखे तो प्रत्येक कार्य साधन बन जाता है। सच तो यह है कि बिना प्रबन्ध के जो प्रबन्ध होता है, वह बड़ा ही आनन्दमय होता है। परन्तु इसका उपयोग आलस्य में न किया जाय।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ! ●

तुम्हारा

....

१०३

बम्बई

१२-३-५९

चिन्मय-धाम-निवासिनी प्रीतिस्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक घटना में अपने प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन करते हुए सर्वदा उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो।

अपने मन की करते-करते अनेक जन्म बीत गये, परिणाम में अभाव ही मिला। प्यारे के मन में मन विलीन हो जाय, अपने में अपना कुछ न रह जाय। समस्त जीवन उन्हीं की भोग्य वस्तु बन जाय, बस, यही मानव-जीवन की वास्तविक मांग है, जिसकी पूर्ति उनकी दी हुई अविचल श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता में निहित है। अतः सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१०४

लखनऊ

७-४-५९

देहतीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

सत्संग और साधन भूमि तथा पौधे के समान हैं। जाने हुए असत् का त्याग करते ही उत्पन्न हुए सभी असाधन स्वतः नाश

हो जाते हैं और फिर साधक के जीवन में अपने आप साधन की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविकता आ जाती है, अथवा यों कहो कि साधन जीवन हो जाता है। इस दृष्टि से जाने हुए असत् के त्याग के अतिरिक्त किसी भी साधक को कुछ भी करना शेष नहीं है।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु देह से अतीत दिव्य चिन्मय प्रीति ही तुम्हारा सहज स्वरूप है, उसी से तुम्हारे प्रेमास्पद को रस मिलता है। रस स्वभाव से ही नित्य तथा अनन्त है। प्रीति तथा प्रियतम का नित्य-मिलन तथा नित्य-वियोग रस की वृद्धि के लिए अनिवार्य है। नित-नूतन प्रीति ही प्रीतम को रस देती है। आत्मीयता में ही प्रियता की जागृति निहित है। जाने हुए असत् का त्याग करते ही सभी ममताएँ अपने आप मिट जाती हैं। ममताओं का अन्त होने पर वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से सम्बन्ध,विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही निष्कामता आ जाती है और चिर विश्राम प्राप्त होता है। विश्राम के सुरक्षित होते ही स्वाधीनता आ जाती है। स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने पर प्रेम अपने आप जागृत होता है। वर्तमान कर्तव्य कर्म द्वारा, विधिवत्, पवित्र भाव से पूजा करते ही साधक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित भूमि में ही चिर विश्राम निहित है।

कर्म, चिन्तन और स्थिति की असंगता ही विश्राम की जननी है। असंगता विवेक-सिद्ध है, अभ्यास-साध्य नहीं है। और आत्मीयता विश्वास-सिद्ध है। उसके लिए किसी अभ्यास विशेष की अपेक्षा नहीं है। अभ्यास केवल कार्यकुशलता के लिए अपेक्षित है। पवित्र भाव की अभिव्यक्ति भी, विवेक-सिद्ध ही है। इस

दृष्टि से निज विवेक के आदर में ही सफलता निहित है। विवेक-रूपी प्रकाश अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को सदैव प्राप्त है। विवेक का आदर बल का दुरुपयोग नहीं होने देता। बल के सदुपयोग में ही कर्तव्यपरायणता निहित है। कर्तव्य-परायणता आ जाने पर जीवन जगत के लिए उपयोगी सिद्ध होता है और असंगतापूर्वक स्वाधीनता आते ही जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। अविचल श्रद्धापूर्वक आत्मीयता स्वीकार करते ही प्रियता उदय होती है और फिर जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

... .

१०५

गीता भवन
ऋषिकेश
२३-४-१९५८

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

जब साधक अनेक रूपों में अपने ही साध्य को पाता है तब उसके लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात प्रगट और गोपनीय,

दोनों का रूप समान हो जाता है। भला सेवा ने कभी सेव्य से भिन्न को पाया ? एवं प्रीति ने कभी प्रीतम से भिन्न को देखा ? कदापि नहीं। बाह्य-स्वीकृतियों और आकृतियों पर आस्था मत करो। आन्तरिक जीवनधन को ही देखो। तो फिर सैद्धान्तिक चर्चा साधक की अपनी चर्चा हो जायगी। साधक का जीवन और सिद्धांत एक है, दो नहीं। अपने सुख के त्याग में प्रीतम का रस निहित है, अर्थात प्रीतम का रस अपना रस है। बे-मन के जीवन में ही जीवन है। सामान-रहित होने में ही स्वाधीनता निहित है।

पूजा-सामग्री पूज्य की ही वस्तु है, अपनी नहीं। प्रेमास्पद की आत्मीयता ही अपना जीवन है। तो फिर अपनी गोप्य निधि कैसे खो सकती है ? वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जानते हैं जो अनन्त की स्मृति होकर रहते हैं।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१०६

अमृतसर
७-७-५६

चिन्मय-धाम-निवासिनी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

निष्कामता आजाने पर सभी प्रकार की अनुकूलताएँ आशा से अधिक आ जाती हैं और प्रतिकूलताएँ भयभीत नहीं कर पातीं, परन्तु अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लिए बिना निष्कामता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। निर्भरता निष्कामता की जननी है—पर इस रहस्य को कोई विरले ही आस्तिक जानते हैं।

साधक को शुद्ध संकल्प बदलना नहीं चाहिए। हां, निर्विकल्प होने के लिए सभी संकल्पों का त्याग किया जा सकता है। किसी संकल्प के लिए संकल्प को बदलना साधक की दृढ़ता में बाधक होता है।

प्राणी परिस्थिति-परिवर्तन में परतंत्र और उसके सदुपयोग में स्वतन्त्र है। बेचारा सुख का भोगी दुःख में आबद्ध हो ही जाता है। त्याग में सभी का हित निहित है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१०७

करनाल
१०-७-५६

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो ।

आस्तिक साधक अपने में अपना करके कुछ नहीं जानता ; केवल प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा के आश्रय को ही अपना परम पुरुषार्थ मान निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है। नित्य-प्राप्त में नित-नव प्रियता के बिना प्रतीति का प्रभाव साधक पर बना रहता है । उससे बचने के लिए अपने निज-स्वरूप की विस्मृति ने ही, अर्थात प्रीति ही मेरा एकमात्र जीवन है, यह भूल जाने से ही ऐसा होता है। प्रीति का ही क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा प्रीति की वृद्धि में हेतु है और प्रीति सेवा को सजीव बनाती है । प्रवृत्ति में प्रीति सेवा के स्वरूप में प्रकट होती है और निवृत्ति में सेवा प्रेमास्पद की मधुर स्मृति का रूप धारण करती है । पर यह सब कुछ स्वतः होगा। अनन्त की कृपाशक्ति विश्वासी साधकों का निर्माण करती है। इस दृष्टि से आस्तिक के जीवन में चिन्ता तथा भय के लिए कोई स्थान ही नहीं है ।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

....

१०८

वृन्दावन
१९-७-५९

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेमास्पद को रस देने के लिए है, सुख-भोग के लिए नही। उपाधि का महत्व यदि अभिमान की वृद्धि में है तो सर्वथा त्याज्य है। भला कौन-सा खिलाड़ी ऐसा होगा जिसको अपने खिलौने की सुन्दरता अभीष्ट न हो। किसी भी आवश्यक प्रवृत्ति से प्रीति में शिथिलता नहीं होती, अपितु वृद्धि ही होती है। अपने लिए की हुई प्रीति भी बन्धन है और प्रिय की प्रसन्नता के लिए की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति से अभिन्न कर देती है—इस दृष्टि से तो परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक कार्य करने में ही सफलता निहित है। प्रतिकूलताएँ तथा अनुकूलताएँ सदैव आती-जाती रहेंगी, परन्तु अपनी निष्ठा में किसी प्रकार का विकल्प न हो। जब विश्वासी आस्तिक साधक को अपने लिए कभी भी कुछ करना नहीं है, तब भला कोई भी प्रवृत्ति उसे कब छू सकती है। प्रेमीजन आयी हुई सेवा से भयभीत नहीं होते और न उसका सुख ही लेते हैं। प्रवृत्ति का अन्त प्रगाढ़ प्रियता में स्वतः होगा। प्रियता प्रवृत्ति में सजीवता और प्रवृत्ति प्रियता से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही खेलने के क्षेत्र हैं, और कुछ नहीं। जिस प्रकार मिलन और वियोग दोनों ही प्रियता की वृद्धि में हेतु हैं, उसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही प्रियतम को रस देने में हेतु हैं।

प्रत्येक दशा में सर्वदा अभय रहो। निश्चिन्तता को अपनी सह-चरी बना लो—आवश्यक सामर्थ्य बिना ही मांगे मिलेगी। आलस्य, अकर्मण्यता तथा कर्माभिमान का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का अनुभव करते हुए उन्हें लाड़ लड़ाती रहो। बस, बेड़ा पार है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

....

१०८

मारवाड़ पाली
४–६–५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

प्राप्त परिस्थिति में ही प्रलोभन और भय का अन्त होते ही आवश्यक कार्य स्वतः होते रहते हैं, कर्तव्य का अभिमान और फलासक्ति की गन्ध भी नहीं रहती। परिस्थिति के अनुरूप प्रीति निर्मित चेष्टाओं से अपने प्यारे की पूजा होती रहती है। अहं-कृति-रहित प्रवृत्ति किसी भी निवृत्ति से कम नहीं है, और

संकल्पयुक्त निवृत्ति किसी भी प्रवृत्ति से कम नहीं है। जिसका अपना कोई संकल्प नहीं रहा उसकी प्रवृत्ति निवृत्ति ही है—प्रेमियों का संकल्प प्रेम की जागृति में ही निहित है। प्रेमास्पद में अगाध प्रेम है—ज्यों-ज्यों यह आस्था दृढ़ होती जाती है त्यों-त्यों प्रेमी का अस्तित्व गल कर प्रेम से अभिन्न होकर प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ होता है।

तुम किसी भी काल में प्रीति से भिन्न कुछ नहीं हो। प्रीति ने अपने प्रीतम से भिन्न का दर्शन ही नहीं किया, अर्थात प्रीति-और प्रीतम की नित नव लीला स्वतः होती रहती है। प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार है, उसमें जड़ता की गन्ध भी नहीं है कारण कि प्रीति और प्रीतम में जातीय एवं स्वरूप की एकता है। प्रीति प्रीतम के समान ही दिव्य तथा चिन्मय है। अपने को भूलने की अनुपम लीला भी प्रीति की वृद्धि में ही हेतु है। भूल का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। भूल को भूल जानते ही भूल का अस्तित्व नहीं रहता—भूल को स्मृति में भूल पोषित होती है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

११०

अजमेर

२४-८-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

कार्य की व्यस्तता संयम की प्रतीक है—उससे मत डरो। भाव क्रिया की अपेक्षा कहीं अधिक विभु तथा सूक्ष्म है। उसको सर्वांश में लिखकर प्रगट करना सम्भव नहीं है। अनेक रूपों में अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो और सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। समस्त चेष्टाएँ भाव में विलीन होकर अखण्ड प्रीति से अभिन्नता कर सकती हैं; किन्तु क्रिया-भेद होने पर भी लक्ष्य तथा प्रीति का भेद न हो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१११

लाडनू
११-६-५६

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो।

अपने पास अपनी करके कोई भी वस्तु कभी नहीं थी, केवल मिथ्या अभिमान ही था, जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से गल गया। उनके देने का ढंग कितना अनुपम है—जिसे देते हैं उसे यह भास ही नहीं होता कि मिली हुई वस्तु मेरी नहीं है। इतना ही नहीं, उनकी ही दी हुई वस्तु यदि उन्हें भेंट कर दी जाय तो वे सदा के लिए उसके हाथ बिक जाते हैं। इस दृष्टि से प्रेमास्पद ही प्रेम करते हैं।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ! ●

तुम्हारा

....

११२

जयपुर
३०-११-५९

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अपने प्रेमास्पद की लाड़ लड़ाती रहो।

मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार सत्संग ही परम पुरुषार्थ है। इसी कारण सोने से पहले, जगने के बाद, प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में सत्संग की विधि है। मानव सेवा संघ मानव को वास्तविक स्वाधीनता का पाठ पढ़ाने के लिए आया है। विकास की स्वाधीनता मंगलमय विधान से सिद्ध है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने मानव-मात्र को विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति के लिए जन्मजात् अधिकारी स्वीकार किया है। मानव सेवा संघ मानवमात्र का अपना संघ है और उसकी साधन-पद्धति सभी के लिए हितकर है। इस मूल सत्य को यथाशक्ति समझाने के लिए मानव सेवा संघ के कार्यकर्ताओं को पूरी शक्ति लगाकर अथक प्रयास करना है। भावना कर्म से अधिक महत्व की वस्तु है। उसका प्रभाव तो सदैव होता ही रहता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्दित रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

११३

बम्बई
९-१२-५९

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति, दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

प्रत्येक अवस्था का सद्व्यय होना चाहिए। प्रवृत्ति में सेवा और निवृत्ति में प्रीति होकर अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यही मेरी सद्भावना है। दुःख का भय और जीवन की आशा ह्रास का मूल है, परन्तु दुःख का प्रभाव और जीवन का सद्व्यय विकास का मूल है; कारण कि दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभन को खाकर पराधीनता से रहित कर देता है और जीवन का सद्व्यय वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है। ●

तुम्हारा
....

११४

बम्बई
गीता जयन्ती
१०-१२-५९

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

आज श्रीगीता-जयन्ती का पुण्य दिवस है—इसी दिवस, सात वर्ष पूर्व, मानव सेवा संघ का प्रादुर्भाव हुआ है। प्रत्येक संस्था को सर्वदा आजीवन कार्यकर्ताओं की अपेक्षा होती है, क्योंकि उनके बिना किसी भी कार्य में सजीवता नहीं आती। इस दृष्टि से तुमने सर्वप्रथम इस आवश्यक कार्य को पूरा किया

है। निस्सन्देह मेरा हृदय आजीवन कार्यकर्ताओं की उदारता का ऋणी है, परन्तु जब तक मानव सेवा संघ की अमर-वाणी, मूक सत्संग, विचार-विनिमय आदि के महत्व को भिन्न-भिन्न प्रकार से न पहुँचा दिया जाय, तब तक सन्तुष्ट हो जाना विशेष हितकर नहीं है, अपितु गुणों का भोग है । गुणों के भोग से दोषों की उत्पत्ति सम्भव है। इस कारण प्रत्येक आजीवन कार्यकर्ता को अथक प्रयास के द्वारा सर्व-हितकारी, सर्व-उपयोगी सर्वतोमुखी विकास की वाणी को, विभु बनाना अनिवार्य है। उसके लिए हमें प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप यथाशक्ति प्रयत्नशील रहना है। जब वह करना ही नहीं है जो नहीं कर सकते अथवा जो नहीं करना चाहिए, तब निराश होने की तो बात ही नहीं है; केवल सजग होकर अपनी ओर देखना है। अपनी ओर देखते ही उन सभी निर्बलताओं का स्पष्ट दर्शन हो जाता है जिनका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। निर्बलताओं के बोध में निर्बलताओं से असंगता स्वतः सिद्ध है। मंगलमय विधान के अनुसार निर्बलताओं की असंगता में ही उनका नाश निहित है। वर्तमान निर्दोषता का आदर करते हुए सावधानीपूर्वक उसको सुरक्षित रखना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब मानव केवल अपनी ओर देखे, तथा पर-दोष-दर्शन से सदा के लिए मुक्त हो जाय।

जब मानव-मात्र में बीज-रूप से मानवता विद्यमान है जिसकी प्राणि-मात्र को मांग है, तब मानव सेवा संघ के अमर सन्देह के विभु होने में सन्देह ही क्या है ? अमानवता-जनित सुख के प्रलोभन ने हमें मानवता से विमुख किया है। इस दृष्टि से सुख के प्रलोभन का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सुख क्या है, इसपर विचार करो। श्रम तथा पराधीनता-पूर्वक व्यक्तिगत संकल्प की पूर्ति ही सुख का स्वरूप है। श्रम क्या है ? जिसके लिए उत्पन्न हुई वस्तु तथा देहाभिमान अनिवार्य हो। क्या प्रत्येक भाई-बहिन यह नहीं जानते हैं कि उत्पन्न हुई वस्तुओं से नित्य सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है—सर्वहितकारी सद्भावना से उनका (मिली हुई वस्तुओं का) सदुपयोग भले ही कर लिया जाय, किन्तु उनको अपना मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः जिस किसी को जो कुछ मिला है वह उसका नहीं है और उसके लिए नहीं है। जो मिला हुआ है वह किसी का दिया हुआ है, उसका सद्व्यय उसी के नाते उसी की प्रसन्नतार्थ करना है। प्रत्येक कार्य के पीछे कर्ता का भाव और भाव के पीछे ज्ञान और ज्ञान के पीछे लक्ष्य होता है। जब कर्ता यह मान लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है वह मेरा है और मेरे लिए है, तब उसकी भावनाओं में अशुद्धि आ जाती है, जो अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति की जननी है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

इसी भूल का अन्त करने के लिए हमें संघ से यह प्रकाश मिला है कि मिली हुई वस्तु आदि को अपना मत मानो। इस प्रकाश को अपनाते ही भौतिकवादी में कर्तव्य-परायणता और अध्यात्मवादी में असंगता एवं आस्तिक में शरणागति स्वतः आ जाता है।

कर्तव्य-परायणता से जीवन जगत् के लिए, असंगता से जीवन अपने लिए एवं शरणागति से जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन मिला है। मानव-

जीवन का मूल्यांकन किसी परिस्थिति के आश्रित करना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सभी परिस्थितियाँ विकास में हेतु हैं—पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं जिन विवेक जनों ने परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि नहीं की और उनसे अपना मूल्य घटाया नहीं है—अपने मूल्य का अर्थ किसी प्रकार अभिमान को बनाये रखना नहीं है। कारण कि अभिमान की उत्पत्ति तो उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों के आश्रित ही होती है। अपने मूल्य बढ़ाने का अर्थ है विषमता का अन्त कर समता में नित्य वास, जो विश्राम से ही साध्य है। विश्राम आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य के त्याग में निहित है, अथवा असंगता एवं शरणागति से भी विश्राम सिद्ध होता है। आवश्यक कार्य भौतिकवादी का कर्तव्य, अध्यात्मवादी का साधन एवं आस्तिक की पूजा है। सुख की दासता तथा दुःख के भय का नाश तो विश्राम आते ही हो जाता है। पर जीवन की मांग तो जीवन को जगत के लिए, अपने लिए और अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होने में है। दुःख-निवृत्ति-मात्र में सन्तुष्ट हो जाना मानव-जीवन की पूर्णता नहीं है। इतना ही नहीं, स्वाधीनता का साम्राज्य भी अपने लिए ही उपयोगी है—मानव-जीवन की पूर्णता तभी सम्भव है जब जीवन अनन्त के लिए भी उपयोगी हो। विश्राम-काल में जीवन जगत् के लिए स्वतः उपयोगी होने लगता है, क्योंकि विश्राम सामर्थ्य का प्रतीक है और जगत् को सामर्थ्य की मांग है। स्वाधीनता, जड़ता तथा अभाव से रहित कर देती है, जो अपने लिए उपयोगी है। केवल प्रेम की जागृति से ही जीवन अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। मानव सेवा संघ ने मानव की मांग, विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रेम को बताया है जो प्रत्येक वर्ग, सम्प्रदाय के

भाई-बहिनों की सुगमतापूर्वक पूरी हो सकती है। कारण कि विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रेम किसी परिस्थिति विशेष के आश्रित नहीं है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में विश्राम और असंगता में स्वाधीनता एवं आत्मीयता में प्रेम निहित है। निज विवेक के प्रकाश में परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए असंग होना अनिवार्य है। असंगता के सुदृढ़ होने पर अथवा अपनी निर्बलताओं से पीड़ित होने पर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अनन्त की आत्मीयता हो सकती है। आत्मीयता प्रियता का प्रतीक है और प्रियता में अनन्त रस स्वतः सिद्ध है। उसके द्वारा स्वीकार की हुई आत्मीयता स्वतः अजर-अमर हो जाती है। मिली हुई सामर्थ्य के सद्व्यय से जो विकास होता है वही विकास असमर्थता की व्यथा में भी निहित है। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ का अमर सन्देश सर्वहितकारी, सर्व-उपयोगी एवं सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। यह निर्विवाद सिद्ध है।

पुनः सभी को सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

११५

गाजीपुर
४-१-६०

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

उदारता में करुणा एवं प्रसन्नता का रस, अचाह में शान्ति रस तथा असंगता में अखण्ड रस एवं आत्मीयता में अगाध अनन्त नित-नव रस विद्यमान है। रस ही एकमात्र जीवन की मांग है, जिसकी उपलब्धि सभी साधकों को हो सकती है। उससे निराश होना, उसकी भविष्य में आशा करना भूल है। अतः वर्तमान में ही नित-नव रस से अभिन्न हो प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यह तुम्हारा स्वधर्म है। सभी साधकों के प्रति प्यार तथा सद्भाव निवेदन करें। ●

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

११६

बलिया
५-१-६०

देहातीत, दिव्य-ज्योति स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

अनन्त के मंगलमय विधान से आवश्यक वस्तु बिना ही मांगे मिलती है और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं मिलती। तो फिर चिन्ता का स्थान ही क्या है। प्रवृत्ति में सेवा होकर और निवृत्ति में प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो। बस यही जीवन है। निज अनुभव के प्रकाश में परिस्थितियों से असंग होकर श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर प्रीति को जगाओ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
... .

११७

काशी
७-१-६०

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

सर्वदा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो। यही मेरी सद्भावना है। वस्तु, योग्यता सामर्थ्य आदि के रहते हुए ही उनसे असंग होकर, निराश्रय प्राप्त कर, नित्य-प्राप्त प्रेमास्पद में

अगाध प्रियता ही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। वही तुम हो। प्रियता से भिन्न तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। देह-अभिमान के कारण ही प्रियता अनेक आसक्तियों में भासित होने लगती है। विश्राम के द्वारा देह-अभिमान-रहित होते ही अनेक आसक्तियाँ सदा के लिए प्रियता से अभिन्न हो जाती हैं, क्योंकि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता उसका नाश अनिवार्य है। अतः आसक्तियों का नाश और अगाध प्रियता की जागृति युगपद् है

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

... .

११८

वाराणसी

८-१-६०

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

अधिकार-रहित आत्मीयता तथा आग्रह-रहित सेवा में ही प्रीति की जागृति निहित है। अपने पर प्रेमास्पद का पूरा-पूरा अधिकार है। क्योंकि सब कुछ उन्हीं से मिला है, उन्हीं का है। अपने में अपना कुछ नहीं है, अतएव जो मिला है उसी से उनकी सेवा करनी है। यह उनकी कृपालुता है कि वे अपनी दी हुई वस्तु से आप रीझते है। अपने अधिकार के त्याग में ही

आत्मीयता सजीव होती है। अधिकार-लोलुपता आत्मीयता को निर्जीव बनाती है। अतः इस पिशाचिनी का अन्त करना अनिवार्य है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

११९

इलाहाबाद

६-१-६०

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

जीवन-ज्योति जगाने के लिए सत्संग ही एकमात्र अचूक उपाय है। सत्संग में ही असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति निहित है। सर्वतोमुखी विकास के लिए सत्संग ही कल्पतरु है। इसी कारण मानव सेवा संघ सत्संग-योजना के लिए सर्वदा आकुल तथा व्याकुल है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। सभी साधकों से सद्भाव तथा बहुत-बहुत प्यार निवेदन करें।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१२०

प्रयाग
१३-१-६०

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो।

आवश्यक कार्य अनावश्यक हो जाना तो प्रतिदिन की बात हो गई है—मानो विधान से निर्मित योजना चल रही है। आर्थिक कमी होने पर भी आवश्यक कार्य स्वतः हो जाते हैं। बुद्धि-जन्य विधान के न रहने पर वह अपने आप हो जायगा जो होना चाहिए। तुम्हारे प्रेमास्पद यही पाठ पढ़ा रहे हैं। तुम्हें वे अपनी प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा
....

१२१

प्रयाग
१४-१-६०

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

सदैव प्रेमास्पद को अनेक प्रकार से लाड़ लड़ाती रहो। बस यही आस्तिक का जीवन है।

रोग पीड़ित शरीर फूँस की कुटिया में पड़ा है। मन्द-मन्द वर्षा हो रही है। प्रत्येक बूँद उनकी अहैतुकी कृपा का पाठ पढ़ा-पढ़ाकर कृतकृत्य कर रही है। प्रत्येक घटना में अनुपम लीला का दर्शन हो रहा है। न जाने उन्हें अपने शरणागतों की हर चीज इतनी प्यारी क्यों लगती है ! इतना ही नहीं,

अपने दिये हुए को पाकर ही क्यों बिक जाते हैं! और पतित से पतित प्राणियों को भी अपनाने के लिए क्यों आकुल हैं! समस्त विश्व की उदारता, करुणा को एकत्रित किया जाय तो भी उनकी करुणा के एक कण के समान भी नहीं है। न जाने साधक प्रमादवश क्यों नहीं उन्हें अपना मानता। पर वे तो सर्वदा सभी के सब कुछ होने के लिए तत्पर हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

१२२

प्रयाग
१०–१–६०

चिन्मय-धाम-विहारिणी प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

क्रिया-शक्ति का सद्व्यय होते ही व्यर्थ-चिन्तन का नाश तथा सार्थक चिन्तन की जागृति होती है। यदि चिन्तन-जनित रस का भोग न किया जाय तो अचिन्त्य जो महाशक्ति है उससे अभिन्नता होती है। अचिन्त्य शक्ति ही अनन्त की अनुपम, अद्वितीय महाशक्ति है, योगमाया है। उसी को मानव सेवा संघ की भाषा में साधन-तत्व कहा है। वही सन्त मत में गुरु-तत्व और वैष्णव मत में गौरी, सीता तथा राधा तत्व के नाम से कहा है। उससे प्रत्येक साधक की अभिन्नता हो सकती है। और इसी में जीवन की सार्थकता निहित है। सभी साधकों को सद्भाव तथा बहुत-बहुत प्यार। जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

१२३

प्रयाग

१८-१-६०

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। अतः प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए वर्तमान कर्तव्य कर्म द्वारा पूजा करना है। और उन्हीं की मधुर-स्मृति अपना जीवन है। अगाध अनन्त नित-नव प्रियता के बिना नीरसता का सर्वांश में नाश नहीं होता। और उसके बिना हुए निर्विकारता एवं समता, मुदिता आदि दिव्य विभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव स्मृति से जागृत नित-नव प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यही सफलता की कुँजी है। ●

तुम्हारा

....

१२४

प्रयाग

२१-१-६०

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। अपने में जब अपना कुछ है ही नहीं, तब अपनी ओर देखने का प्रश्न ही नहीं है। अनन्त की अहैतुकी कृपा स्वयं उनकी सेवा तथा प्रेम का अधिकारी बनाये, यही मेरी सद्भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

....

१२५

प्रयाग

२४-१-६०

देहातीत, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो।

अनेक रूपों में अनेक भावों से अपने एक ही प्रेमास्पद की पूजा करनी है और उन्हीं की प्रीति होकर रहना है। अपने में अपना करके कुछ भी नहीं रखना है, क्योंकि यही वास्तविक तथ्य है। मिला हुआ उनका है जिन्होंने दिया है। उसे अपना

मानना भूल है। वे कितने परम उदार सुहृदय हैं कि अपने दिये हुए को वापस लेकर ही अपने को दे डालते हैं। इतना ही नहीं, जो उन्हें अपना मान लेता है और अपने में अपना कुछ नहीं रखता तथा भोग और मोक्ष की कामना से रहित हो जाता है उसके वे प्रेमी हो जाते हैं और स्वयं अपने को ऋणी मानने लगते हैं। यह अनुपम उदारता भला कहाँ मिलेगी ? अत: सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। बस यही सफलता की कुंजी है। ●

तुम्हारा

....

१२६

प्रयाग

२२-१-६०

देहातीत प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

अनन्त के मंगलमय विधान में अविचल आस्था रखते हुए, जो कुछ हो रहा है उसी में सन्तुष्ट रहो और प्रत्येक घटना में अपने प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन करती हुई सर्वदा उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो। यही मेरी सद्भावना है। अपने में अपना करके कुछ नहीं है, अपितु प्रेमास्पद की आत्मीयता ही अपना जीवन है। आत्मीयता चाह-रहित होते ही सजीव होती है और स्वत: साधक को प्रीति से अभिन्न कर कृतकृत्य कर देती है। सभी साधकों के प्रति सद्भाव तथा बहुत-बहुत प्यार। ●

तुम्हारा

....

१२७

प्रयाग

२३-१-६०

अतीत चिन्मय-धाम-विहारिणी प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

श्रम-साध्य निवृत्ति भी वास्तव में प्रवृत्ति ही है। इस कारण निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों ही अवस्थाओं से असंग होना अनिवार्य है। सभी अवस्थाओं से असंग होते ही स्वतः निष्कामता आजाती है और फिर विश्राम से अभिन्नता हो जाती है। विश्राम में ही समस्त विकास निहित है। जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता तब सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति अपने आप आती जाती है। उनसे तादात्म्य न रखना ही साधक का अपना पुरुषार्थ है, अथवा आत्मीयता स्वीकार कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना साधक का अन्तिम प्रयत्न है। पुरुषार्थ की पूर्णता, अर्थात् प्रयत्न का अन्त वर्तमान में करना है। सभी साधकों के प्रति सद्‌भाव तथा बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१२८

प्रयाग

२५-१-६०

अवस्थातीत प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

श्रद्धा तथा विश्वास से आत्मीयता प्राप्त होती है और निष्कामता से उसका पोषण होता है। ममता के त्याग में ही

समता की अभिव्यक्ति निहित है। सेवा, त्याग तथा आत्मीयता में ही कर्तव्य की पूर्णता है। वर्तमान निर्दोषता में निर्विकल्प आस्था तथा अनुभव ही विकास का मूल है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१२६

पटना

२७-२-६०

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

कृपया विचार करें— एक पथिक अमुक चोटी पर पहुँचना चाहता है। चलने की सारी शक्ति व्यय होने के पश्चात् यदि वह अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा तो उसकी वस्तुस्थिति क्या होगी? एकमात्र परम व्याकुलता, ऐसी व्याकुलता नहीं कि जिससे साधक अपना विभाजन कर सके। यदि व्याकुलता जागृत न हुई तो क्या कर्ता का अस्तित्व रहेगा? कदापि नहीं। यदि उसे अपना अस्तित्व भी भासित होता है और व्याकुलता भी नहीं है तो यह स्पष्ट है कि या तो उसमें चलने की सामर्थ्य है या अभीष्ट लक्ष्य से निराशा है। यदि ये दोनों दोष नहीं हैं तो परम व्याकुलता की जागृति अथवा माँग की सिद्धि अनिवार्य है। जो, कुछ नहीं कर सकता उसमें अविचल आस्था सहज भाव से जागृत होती है। जो कर सकता है उसके करने पर कर्ता स्वयं व्याकुलता से अभिन्न होता है अथवा सिद्धि पाता है। साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है। चलते-फिरते,

उठते-बैठते, सोते-जागते नित-नव आशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, जो दायित्व पूरा करने में समर्थ है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

....

१३०

बक्सर

२२-३-६०

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा एवं अनन्त की प्रीति होकर रहो।

सजगतापूर्वक प्रयास करो। परिणाम में जो हो उसी में मस्त रहो। देहाभिमान गलाने तथा नित-नव प्रीति की जागृति के लिए नित-नव उत्साह बढ़ता रहे। बस यही सफलता की कुंजी है।

तुम्हारा

....

१३१

पाली

२६-३-६०

देहातीत दिव्य-ज्योति,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

संयोग-वियोग विधान के आधीन है। उसके लिए चिन्ता करना भूल है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु

प्रीति हो। देह की तादात्म्यता का त्याग और प्रीति से अभिन्नता युगपद् हैं। प्रीति का क्रियात्मक रूप सेवा और सेवा की परावधि प्रीति है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१३२

वृन्दावन

५-८-६०

दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद की मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता से अभिन्न होकर रहो। यही वास्तविक जीवन है।

विवेकपूर्वक ममता, कामना तथा तादात्म्य का त्याग ही वास्तविक, जाने हुए असत् का त्याग है। असत् के त्याग में ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों का नाश निहित है, जिसके होते ही स्वतः प्रत्येक साधक की साधन-तत्व से अभिन्नता हो जाती है। पर यह विचार पथ है। इसका अधिकारी वही है जिसे संयोग तथा श्रम-जनित सुख सहन नहीं होता हो तथा सुख में दुःख का स्पष्ट दर्शन होता हो। अपनी असमर्थता से पीड़ित साधक सुने हुए प्यारे प्रभु में अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर रोम-रोम से यही पुकारता है कि प्यारे, अपनी मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता प्रदान करो। निर्बल की पुकार, प्यारे अवश्य सुनते हैं। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। बल का अभिमान ही साधक को शरणागत

नहीं होने देता—गुणों का भोग ही वास्तविक बाधा है। असमर्थता की पीड़ा में ही समस्त विकास निहित है। किसी भी दशा में निराश नहीं होना है। तुम, सच मानो, अपने प्यारे की अनुपम खिलौना हो। वे सदैव तुम्हारे हैं और तुम सदैव उनकी, तुम प्रीति हो वे आनन्द, तुम प्रिया हो वे प्रीतम, तुम जिज्ञासा हो वे तत्व-ज्ञान, तुम शरीर हो तो वे विश्वरूप, तुम प्रोफेसर हो तो वे विद्यार्थी, प्रत्येक परिस्थिति में तुम्हारा उनका नित्य सम्बन्ध है— निष्कामता, निर्ममता ही आत्मीयता को सजीव बनाती है। आत्मीयता में ही मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता है। मेरी सद्‌भावना सदैव तुम्हारे साथ है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। प्रवृत्ति में प्यारे की पूजा और निवृत्ति में अखण्ड स्मृति स्वत: जागृत होगी। तुम इसमें लेशमात्र भी विकल्प मत करो, अपितु उत्तरोत्तर नित-नव आशा उदित होने दो। ●

तुम्हारा

....

१३३

मुजफ्फरनगर

३०–८–६०

स्नेहमयी साधन-निष्ठ, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो—यही मेरी सद्भावना है।

असमर्थता की पीडा में जो विकास है, तुम उससे भलीभांति परिचित हो। किसी न किसी रूप में हम लोग साधन-जनित रस का पान कर लेते हैं। आई हुई व्यथा को शिथिल कर देते हैं। उनकी महिमा में सीमा बना लेते हैं, जो वास्तव में

असीम है। वे सदैव अपने हैं, अपनी ओर देख रहे हैं। इतना ही नहीं, अपने लिए सब कुछ कर रहे हैं। पर हमारी दृष्टि उनके दिए हुए दिव्य जीवन की ओर नहीं जाती, अपितु उस जीवन-ज्योति को अपने साधन का फल मान बैठते हैं ? क्या साधक में साध्य की महिमा के अतिरिक्त कुछ और है ? यदि है तो वह अपनी भूल है। भूल को भूल जानते ही भूल नहीं रहती। क्या उसकी आत्मीयता के अतिरिक्त और कोई महत्व-पूर्ण तत्व है ? कदापि नहीं। उनकी आत्मीयता ही आस्तिक का सर्वस्व है। भला कहीं अपने में अपनी अगाध प्रियता नहीं होगी ? अवश्य होगी। इसमें सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अपने में अपनी प्रियता स्वभाव से ही होती है, अथवा यों कहो कि अपने को सभी प्यार करते हैं। साध्य का किया हुआ प्यार ही साध्य की प्रियता के रूप में परिणित होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने अपनी अस-मर्थता अनुभव कर उनकी महिमा में अविचल आस्था की है। वे सदैव तुम्हारे अपने हैं और तुम उनकी नित-नव प्रीति हो। तुम्हारा अस्तित्व उन्हीं की कृपा से निर्मित है। अतः प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करो। बस यही वास्तविक जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

१३४

बलरामपुर

२२-११-६०

पूजा की प्रतीक दिव्य-ज्योति, दुलारी बेटी,

सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह ।

सर्वदा सेवा तथा मधुर स्मृति होती रहे—यही मेरी सद्भावना है । प्रलोभन तथा भय का सर्वांश में अन्त होने पर ही कर्तव्य का यथेष्ट बोध होता है । प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है । उसके सदुपयोग मात्र में ही साधक का अधिकार है ।

प्रिन्सिपल की पोस्ट तुम्हें रुचिकर नहीं है, पर आई हुई परिस्थिति का विरोध अपनी व्यक्तिगत रुचि का पोषण है । प्रेमास्पद का संकल्प पूरा हो, यही प्रेमियों का अविचल निर्णय है । आर्थिक सेवा निर्लोभता का साधन है । पर ममतायुक्त धन से वास्तविक सेवा नहीं होती । निर्मोहता, निष्कामता एवं ममता-रहित होने पर ही सेवा सम्भव है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तुम्हारा

....

१३५

वृन्दावन
२८-११-६०

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति,

सर्वदा अनेक भावों तथा वर्तमान कर्तव्य कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करती रहो तथा लाड़ लड़ाती रहो।

अपना संकल्प न रहने पर सब कुछ स्वतः होता रहता है। अपना संकल्प ही अपने को असमर्थता में आबद्ध करता है। सभी संकल्पों के त्याग में ही चिर-विश्राम निहित है, जो समस्त विकासों की भूमि है। अतः विश्राम सुरक्षित रखना सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब प्यारे की मौज में ही अपनी रुचि विलीन कर दी जाय। इसके लिए केवल उनकी आत्मीयता ही मूल प्रयास है। मोहयुक्त सेवा वास्तव में सेवा नहीं है। उस सेवा से तो जिसकी सेवा की जाती है उसमें भी मोह की ही वृद्धि होती है। तुम्हारे द्वारा मोह-रहित की हुई सेवा से वृद्ध पिता का कल्याण होगा—इस दृष्टि से यदि तुम्हें अवसर मिले तो अपने को बचाना मत। क्या तुम यह नहीं जानती कि इस अवस्था में भी वे पड़ोसियों के बच्चों को, बिना पैसे लिए पढ़ा देते हैं, जैसा कि मैंने सुना था। ऐसे महानुभाव की सेवा करना संघ की ही सेवा है।

जिओ जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

●

तुम्हारा

....

१३६

कटनी

९-१२-६०

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यही मेरी सद्-भावना है।

..................मेरे विश्वास के अनुसार कुछ रोग अभिमान बढ़ जाने पर भी होते हैं। किसी साधक को ऐसा छिपा हुआ अभिमान होता है कि जिसकी निवृत्ति कराने के लिए भी रोग आता है। एक साधक ने किसी के प्रति घृणा की भावना की और वह तुरन्त रोगी हो गया। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। भय से भी रोग हो जाते हैं। भय और अभिमान का अन्त होने पर कुछ रोग स्वतः नाश हो जाते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१३७

प्रयाग

११-१-६१

प्रीतिस्वरूपा साधननिष्ठ देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य कर्म के रूप में अपने परम सुहृदय प्रेमास्पद की पूजा करती रहो और उनकी अगाध प्रियता को ही अपना सर्वस्व जानो।

अपना करके अपने में कभी भी कुछ नहीं है। उनकी दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से ही विश्व के स्वरूप में उनकी पूजा करनी है और उनकी प्रियता से ही उन्हें रस देना है। वे अपने लिए उपयोगी बनावें, यही सतत माँग है। यह माँग काम को खा लेती है और स्वतः पूरी हो जाती है। यह प्रियतम का अनुपम मंगलमय विधान है। उनके विधान में अविचल आस्था रखना अपना अन्तिम प्रयास है। विधान की आस्था साधकों को निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्रदान करती है। देखा हुआ स्वप्न भविष्य की उज्वलता तथा निर्मलता का सूचक है। प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों प्रकार के पथों का प्रदर्शक है। World Federation प्रवृत्ति का संकेत और निर्जन बन निवृत्ति का प्रतीक है। भिक्षा में मिला हुआ अर्थ सामर्थ्य का उद्योतक है। भिक्षा के लिए जाने से रोक दिया इससे यह पाठ पढ़ना चाहिए कि आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे ही मिलेगी। ●

तुम्हारा

....

१३८

प्रयाग

१३-१-६१

प्रीतिस्वरूपा साधननिष्ठ देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

प्रकाशन के सम्बन्ध में तुम्हारा विचार अवकाश लेकर काम करने का है, पर विचार इस बात पर करना है कि बालिकाओं

के अधिकार का अपहरण तो नहीं होगा। उनको किसी प्रकार की क्षति तो नहीं होगी। वर्तमान कर्तव्य कर्म को बिगाड़ कर किसी भी सेवा-कार्य को करना क्या न्याययुक्त है? इसपर विचार करो। ●

तुम्हारा

....

१३६

इटावा
८–२–६१

प्रीति-स्वरूपा देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा पूजा करते हुए प्रेमास्पद की मधुर स्मृति होकर रहो। यही मेरी सद्भावना है।

तुमने ठीक ही लिखा है कि "अच्छा नहीं लगता।" किसी प्रेमी का वचन है कि "मुकुन्द बिना कुन्द केहि काम के।" प्रेमास्पद के वियोग में भी प्रीति की वृद्धि होती ही है और मिलने में भी प्रीनि बढ़ती ही रहती है। पर कब? जब और कोई अपना नहीं है। इतना ही नहीं, अपनत्व से भिन्न कुछ और नहीं चाहिए। अपनत्व में ही अगाध प्रियता तथा नित-नव रस की अभिव्यक्ति निहित है। इस दृष्टि से आत्मीयता में ही पुरुषार्थ की पूर्णता है, जो एकमात्र आस्था-श्रद्धा-विश्वास से ही सम्भव है।

कोई साधक जाने न जाने, माने न माने, पर वह अनाथ नहीं है। वह सर्वदा सनाथ है। उसका प्रकाशक और उसका आश्रय सदैव उसके साथ है। तो फिर निराश होने का स्थान ही

कहाँ है ! उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। वे सभी के अपने होने पर भी न जाने क्यों छिपे हैं। उनकी अनुपम लीला ही हमें देखते रहना है। उनके होकर कुछ करना-धरना तथा लेना-देना नहीं है। उनकी अगाध प्रियता ही अपना सर्वस्व है।

तुम्हारा

....

१४०

भिन्ड

१६-२-६१

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद की मधुर स्मृति होकर रहो। यही मेरी सद्भावना है।

तुमने बड़ी ही सरलतापूर्वक लिखा है कि स्वस्थ हूँ। प्रसन्नता तो प्रेम तत्व से अभिन्न होने में ही है। परन्तु तुम खिन्न नहीं हो, प्रीति से अभिन्न होने के लिए व्याकुल हो। जिन साधकों ने आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार की वे सभी कृतकृत्य हो गये। यह निर्विवाद सत्य है। पर यह सब उन्हीं को भाता है जिन्होंने जाने हुए जगत की ममता तथा कामना का विवेकपूर्बक त्याग किया है और सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था की है। इस दृष्टि से तुम्हें भी वह रस अवश्य मिलेगा जिसकी माँग है। बार-बार यही पुकारती रहो कि हे प्यारे, अपनी मधुर स्मृति प्रदान करो। प्रिय की मधुर स्मृति ही प्रिय को रस देती है, जो तुम्हारा निज स्वरूप है।

स्मृति दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त कर देती है। इतना ही नहीं, प्रिय की स्मृति में ही प्रिय का नित्य वास है। प्रत्येक कर्तव्य कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करते हुए उनकी प्रीति होकर रहो, जो एकमात्र ममता-रहित निष्कामता-पूर्वक आत्मीयता में ही निहित है। •

तुम्हारा

... .

१४१

बाराबंकी

१७-३-६१

देहातीत दिव्य-ज्योति, दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

गुणों के अभिमान में ही दोष पोषित होते हैं। दोष-जनित वेदना ही गुणों के अभिमान को भस्मीभूत कर साधक को वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है।

दोष-जनित वेदना अनन्त की अनुपम देन है। अतः उसे अपना लेना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सेवा प्रीति को पोषित करती है और निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से प्रीति जागृत होती है। सोई हुई प्रीति के जगाने में ही साधक के प्रयास की पराकाष्ठा है। इतना ही नहीं, प्रीति से अभिन्न होने में ही जीवन की सार्थकता है। यदि यह कहा जाय कि प्रीति ही जीवन है, तो अत्युक्ति न होगी।

हे प्रेमास्पद, अपनी प्रीति दो, अपने लिए उपयोगी बनाओ। तुम्हारी दी हुई प्रीति ही तुम्हारे लिए रस-रूप सिद्ध होगी। हे प्यारे, तुम्हारा रस ही मेरा जीवन है। तुमने सदैव अपने हाथ सम्भाला है। यह निर्विवाद सत्य है।

तुम्हारी अद्वितीय अनुपम महिमा पर तो सभी रीझते हैं, पर तुम्हारी आत्मीयता कितनी मधुर है इसे वही जाने जिसे तुम जनावो। तुम्हारे द्वारा तुम्हारी ही आत्मीयता प्राप्त होती है। अतः सभी को अपनी आत्मीयता देकर अपने लिए उपयोगी बनाओ। यद्यपि तुम सभी के सदैव अपने हो पर अपनी अहैतुकी कृपा से इसकी विस्मृति न होने दो। तुम्हारी आत्मीयता की स्मृति में ही सब कुछ भरा है, पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने केवल तुम्हारी अहैतुकी कृपा का ही सहारा लिया है। तुम्हारी अहैतुकी कृपा ही मेरा सर्वस्व हो और तुम्हारी आत्मीयता ही मेरी सतत्, अविचल अभिरुचि हो। यही जीवन की मांग है। ●

तुम्हारा

....

१४२

चरथावल

१८-७-६१

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति, दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

साधकों की असह्य व्यथा सदैव बनी रहे, कारण कि साधकों के प्यार से प्यारे को रस मिलेगा। जो एकमात्र सदैव अपने हैं और

अपने लिए सब कुछ करते हैं, फिर भी उतने प्यारे नहीं लगते जितने लगने चाहिए,यही भूल है। इस भूल का अन्त उसकी महिमा में अविचल आस्था होने से ही होगा । न मानने पर भी जो अपने को मानते हैं और न जानने पर भी अपने को जानते हैं—देखो भला वे कितने अच्छे हैं ! अपने तो चाहे जैसे हों फिर भी प्यारे लगते हैं। पर यह कैसा आश्चर्य है कि अपने भी हैं और सर्वोत्कृष्ट भी हैं क्या फिर भी प्यारे नहीं लगेंगे। असावधानी यह होती है कि प्यारे के प्यार का रस साधक स्वयं लेने लगता है। व्यक्तिगत सुख की गन्ध भी प्रीति में कलंक है। उनके दिए हुए से ही उनकी सेवा-पूजा करना है, और उनकी प्रीति से अभिन्न होना है। अभिन्न होने की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, जो अहैतुकी कृपा से ही साध्य है। असमर्थता की वेदना और उनकी महिमा ज्यों-ज्यों स्थाई होती है त्यों-त्यों स्वतः अहैतुकी कृपा का अनुभव होता है। यद्यपि कृपा सर्वत्र सर्वदा अनवरत बरस रही है पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता को अपनाया है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१४३

विदुरकुटी
२६-७-६१

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जो हो रहा है वही मंगलमय है। प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहना है। आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता प्रत्येक साधक को स्वत: मिलती है। साधक को केवल मिले हुए का सदुपयोग करना है, और निश्चिन्त तथा निर्भय रहना है। इतना ही नहीं, शरणागत साधन के जीवन में तो अहंकृति की गन्ध भी नहीं रहती। अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति उसका स्वत: निर्माण कर प्रेमास्पद की सेवा तथा प्रीति के योग्य बना देती है। इस दृष्टि से शरणागत होने में ही साधक के पुरुषार्थ की परावधि है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुन: तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

१४४

विदुरकुटी
२७-७-६१

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

प्रत्येक कर्तव्य कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करते हुए सर्वदा उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो। यही मेरी सद्-भावना है।

सच तो यह है कि जब तक शरीर की आवश्यकता है रहेगा ही। मिला हुआ बना रहे, इसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है; अपितु मिले हुए का सदुपयोग हो जाय और ममता, कामना एवं तादात्म्य का सर्वांश में नाश हो जाय तभी साधक वास्तविकता से अभिन्न हो सकता है। अतः सजगतापूर्वक यह प्रयास करना है कि मिले हुए का दुरुपयोग न हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि बलपूर्वक सदुपयोग किया जाय, अपितु दुरुपयोग करने की रुचि का ही नाश हो जाए, तभी स्वतः सदुपयोग होगा और प्राप्त की ममता तथा अप्राप्त की कामना का नाश होगा, जिसके होते ही तादात्म्य मिट जायगा और प्रीति तथा प्रीतम का नित्य-विहार होता रहेगा, जो रसरूप है। अतः सर्व-समर्थ प्रेमास्पद अपनी अहैतुकी कृपा से दुरुपयोग की रुचि को सदा के लिए खा जायँ, यही मेरी सद्भावना है। ●

तुम्हारा

…………

१४५

बम्बई
१५-९-६१

स्नेहमयी साधन-निष्ठ, दुलारी बेटी,

किया हुआ सत्संग तथा साधन नाश नहीं होता। इस कारण प्यारे मित्र का वियोग उसके लिए तो हितकर ही होगा, पर जिन लोगों ने उनसे आशा कर रखी थी वे निराश हो गये। ऐसी दशा में वस्तु, व्यक्ति आदि की आशा का वर्तमान में ही अन्त करना अनिवार्य है, तभी मानव आए हुए दुःख से अपना विकास कर सकता है। यद्यपि मृत्यु जन्म से ही आरम्भ हो जाती है पर उस पर दृष्टि न रखने से मानव जीवन में ही मृत्यु का अनुभव नहीं कर पाता। जिसके बिना किये संयोग में वियोग का अनुभव नहीं होता और न नित्य-योग की प्राप्ति ही होती है। प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की अनुपम-लीला का ही दर्शन करना है। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। सुख के प्रलोभन का नाश करने के लिए वे भिन्न-भिन्न प्रकार की लीला करते हैं, पर न जाने कितनी जड़ता है कि मानव जीने की आशा रखता है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

प्यारे मित्र को आत्म-शान्ति तथा मोह-पीड़ित प्रियजनों को विवेक प्रदान करें, यही प्रेमास्पद से प्रार्थना है। आवश्यक प्रार्थना अवश्य पूरी होती है। ऐसा अनेक बार अनुभव हो चुका है। सुख-सुविधा न रहने का दुःख सुख-लोलुपता का ही परिचय है। अतः आए हुए दुःख के प्रभाव से शीघ्रातिशीघ्र सुख-लोलुपता का नाश करना है और सब प्रकार से दुःखहारी की मधुर-स्मृति ही होकर रहना है। जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१४६

बम्बई

१८-९-६१

स्नेहमयी साधन-निष्ठ देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

वे स्वयं ही सुख-दुःख के रूप में सेवा और त्याग का पाठ पढ़ाते हैं और अनेक रूपों में वे स्वयं ही हैं, कोई और नहीं है। इतना ही नहीं, तुम्हारे में उनके प्रति जो आत्मीयता जागृत हुई है वह भी उन्हीं की विभूति है। वे स्वयं प्रेम और प्रेमास्पद है। उनसे भिन्न कुछ है ही नहीं। उनकी प्रियता, स्मृति, आत्मीयता और विश्वास ही उनके लिए रसरूप है। उनकी होकर उनकी प्रियता माँगो। अवश्य मिलेगी। कारण कि वे अपनी प्रियता से आप मोहित होते हैं। मानव का निर्माण एकमात्र उन्होंने प्रियता के लिए ही किया है। अतः नित-नव प्रियता से निराश होना भूल है। आशा है कि तुम अविचल आस्थापूर्वक अपने को उनकी प्रियता का अधिकारी स्वीकार करोगी। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१४७

इन्दौर
१९-९-६१

स्नेहमयी साधन-निष्ठ दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

किया हुआ साधन कभी नाश नहीं होता, इस कारण···· के निधन से उनकी कोई क्षति न होगी। जिसने एक बार भी प्यारे प्रभ को अपना कहा है उसका सर्वतोमुखी विकास अनिवार्य है। अब रही उनके प्रियजनों के सुख-सुविधा की बात। यह तुम जानती ही हो कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। आए हुए दुःख का प्रभाव दुःखी के विकास में हेतु है ही।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा
··········· ········

१४८

बटाला
२८-९-६१

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यही मेरी सद्भावना है।

प्रीति ही प्रियतम को रस देती है। निर्ममता, निष्कामता-पूर्वक मानव आत्मीयता स्वीकार करने में समर्थ होता है। अपने होने से ही वे अपने को प्रिय हैं। उनकी प्रियता ही अपना जीवन है। सब कुछ देकर उनकी आत्मीयता प्राप्त करने में ही मानव

के पुरुषार्थ की परावधि है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर तुम्हें अपनी प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१४९

मोतीहारी
२५-११-६१

देहातीत दिव्य-ज्योति साधन-निष्ठ प्रीतिस्वरूपा दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

आज प्रातः टेलीफोन पर बात करने से विदित हुआ कि शारीरिक अस्वस्थता बढ़ रही है। उनके सिखाने के अनेक ढंग है। जो साधन-सामग्री है उसके द्वारा साधक किसी प्रकार का सुख सम्पादन न कर सके, इसी कारण वे रोग के स्वरूप में प्रकेट होते हैं। पर साधक यह रहस्य जान नहीं पाता कि मेरे ही प्यारे रोग के वेप में आए हैं। अतः आए हुए रोग का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए वास्तविक कार्यक्रम को सजगता-पूर्वक शीघ्रातिशीघ्र पूरा कर दो। वह कार्यक्रम क्या है, इस पर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि ममता तथा

कामना को त्याग आत्मीयता को अपना लेना है। उनकी आत्मीयता में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। वे अपने हैं और अपने को अत्यन्त प्यारे हैं। उनकी प्रियता ही अपना जीवन है। प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा और विवेकात्मक रूप त्याग है। इस दृष्टि से सेवा, त्याग, प्रेम में ही जीवन की पूर्णता है।

मिले हुए का सदुपयोग सहज स्वाभाविक होता रहे और उनकी प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यही साधक की माँग है। दुरुपयोग करने की रुचि सदा के लिए मिट जाय। समस्त सम्बन्ध उनकी आत्मीयता में ही विलीन हो जायँ। यही वास्तविक सत्संग है। इसी के लिए उन्होंने मानव का निर्माण किया है। मानव उन्हीं के समान अद्वितीय है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते है जिन्होंने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया है। सब प्रकार उन्हीं का होकर रहना है। एकमात्र वे ही अपने हैं यह अविचल आस्था ही आस्तिकता है। आस्तिक के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। किसी भी काल में कोई और है ही नहीं। सर्व रूप में अपने ही प्रेमास्पद हैं। किसी और का भास होना ही अपनी भूल है। इस भूल का अन्त शरणागत होते ही स्वतः हो जाता है। अपने में अपना करके कुछ नहीं है। यह सब कुछ उन्हीं का है। पर वे अपने हैं इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। अपने की अपने को स्मृति स्वतः सिद्ध है। प्रिय की मधुर स्मृति में ही जीवन है कारण कि स्मृति दूरी, भेद तथा भिन्नता को खा लेती है और फिर स्वतः योग, बोध की अभिव्यक्ति होती है जो वास्तविक जीवन है।

अपने लिए अपने को कुछ भी नही करना है। समस्त प्रवृत्ति में सेवा और निवृत्ति में प्रीति स्वतः सिद्ध है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही मंगलमय विधान से निर्मित हैं। अपना संकल्प मिटते ही सब कुछ स्वत: हो जाता है। अपने संकल्प ने ही अपने को अपने से विमुख किया है। अत: अपने सभी संकल्पों को समर्पण कर अपने में अपने की स्थापना कर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी अगाध प्रियता प्रदान करें। यही मेरी सद्-भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुन: तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

१५०

पटना

३०-११-६१

मंगलमय विधान से निर्मित दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सादर सप्रेम अभिवादन।

मानवता में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। भूल-जनित दोषों की निवृत्ति और सेवा, त्याग, प्रेम की अभिव्यक्ति एकमात्र जाने हुए असत् के त्याग से ही साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग में ही पुरुषार्थ की परावधि है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते है जिन्होंने

मानव-जीवन का आदरपूर्वक स्वागत किया है, और जो सफलता के बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते। असफलता को सहन कर लेना ही मानव-जीवन का अपमान है। सफलता के लिए नित-निव उत्साह और आकुलता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यही सफलता की कुंजी है। मानव वास्तविकता से विमुख हो गया है और कुछ नहीं। सफलता की तीव्र भूख विमुखता का अन्त कर सफलता से अभिन्न करने में समर्थ है। निर्माता को मानव अत्यन्त प्रिय है। यह उसका निज खिलौना है। इसका निर्माण उसने अपनी मौज के लिए ही किया है। पर यह दीनतावश उससे विमुख हो उसकी वाटिका में खेलने लगा है। उसी का यह परिणाम है कि अपने से निराशा और उसकी वाटिका में आशा उत्पन्न हो गई है। सफलता की उत्कट लालसा से ही निराशा आशा में परिणत होती है। बस यही वास्तविक उपाय है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१५१

पटना

१-१२-६१

देहातीत दिव्य-ज्योति प्रीतिस्वरूपा, दुलारी बेटी,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। इसका अनुभव विश्राम काल में स्वतः होगा। सब प्रकार से अभय होकर शान्त हो जाओ, यही महामन्त्र है वास्तविकता से अभिन्न होने के लिए। तुम्हारे निर्माता ने तुम्हें बड़ी ही अनुपम तथा अविचल आस्था दी है। अविचल आस्था के विकसित रूप श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता हैं। आत्मीयता ही प्रियता में परिणत होती है। किन्तु निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता को सुरक्षित बनाये रखना है जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। समस्त दिव्यता दैवी है। वह स्वतः अभिव्यक्त होती है। भूल-जनित दोषों की अरुचि में ही सत्संग की उत्कट लालसा पोषित होती है, अर्थात् असत् के त्याग का बल स्वतः आ जाता है। यह मंगलमय विधान है। समस्त गुण दैवी हैं और दोष भूल-जनित—यह दार्शनिक तथ्य गुणों के अभिमान को नाश करने में समर्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१५२

पटना
२-१२-६१

देहातीत प्रीति-स्वरूपा साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

भूल-विनाशक प्यारे प्रभु की अविचल आस्था में सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन कर अपनी असमर्थता तथा भूल का अनुभव किया है। भूल-जनित वेदना स्वतः भूल-विनाशक की आस्था प्रदान करती है। आस्था स्वतः श्रद्धा, विश्वास, आत्मीयता आदि के रूप में परिणत हो साधक को साधन-तत्व से अभिन्न कर कृत-कृत्य करने में समर्थ होती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में निराशा तथा असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अतः सफलता के लिए नित-नव-उत्साह तथा आकुलता बढ़ती रहे, जो एकमात्र अपनी असमर्थता और उनकी महत्ता से ही साध्य है। असमर्थ साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सर्वसमर्थ की शरणागति प्राप्त कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है। यह मंगलमय विधान है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१५३

पटना
३-१२-६१

अहैतुकी कृपा से निर्मित साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

अचाह, अप्रयत्न और आत्मीयता में सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने मानव-जीवन के महत्व का भलीभाँति अनुभव किया है। शरीर आदि वस्तुओं की महत्ता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक मानव अपनी वास्तविक माँग से अपरिचित रहता है। यद्यपि मानव-मात्र में वास्तविक माँग बीज-रूप से विद्यमान है, परन्तु ममता, कामना तथा तादात्म्य के कारण बेचारा मानव वास्तविक माँग को भूल अपने को कामनाओं में आवद्ध कर लेता है। किन्तु कामना-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख उसे सन्तुष्ट कर नहीं पाते; अपितु सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन की खोज से निराश होने के कारण वह सुख की दासता और दुःख के भय में आवद्ध रहता है, जो उसकी अपनी अपनाई हुई भूल है। अपनी भूल मिटाने का दायित्व अपने पर ही है, अन्य पर नहीं, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही मिट सकती है। इस दृष्टि से सहज-भाव से प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में सत्संग परम आवश्यक है। अचाह, अप्रयत्न और आत्मीयता से स्वतः असत् का त्याग तथा सत् का संग हो जाता है। सत्संग मानव का स्वधर्म है। इस कारण सत्संग सभी को सुलभ है। सत्संग के लिए लेशमात्र भी 'पर' की अपेक्षा नहीं है। पर यह कैसी विडम्बना है कि आज का साधक सत्संग को बड़ा ही दुर्लभ

मानता है। हाँ, यह अवश्य है कि मानव से भिन्न किसी अन्य को सत्संग साध्य नहीं है। मानव का निर्माण तो एकमात्र सत्संग के लिए ही हुआ है। इस वैधानिक तथ्य पर बड़ी ही सजगतापूर्वक अविचल आस्था करना है। सत्संग से असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। सत्संग के बिना बल-पूर्वक किया हुआ साधन साधक को मिथ्या अभिमान में आबद्ध करता है। मानव का प्रयास एकमात्र सत्संग में ही है। अतः प्रत्येक साधक को सत्संग बहुत ही सावधानीपूर्वक सजगता एवं सहज भाव से करना है। असत् को असत् जानना ही असत् के त्याग एवं सत् के संग में हेतु है। अपनी ओर देखते ही अपने में विद्यमान असत् का ज्ञान स्वतः हो जाता है। कारण कि अपने सहयोग के बिना असत् अपने पर शासन नहीं करता। अतः प्रत्येक परिस्थिति में असत् का त्याग एवं सत् का संग सुगमतापूर्वक सम्भव है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१५४

पटना

४-१२-६१

देहातीत, दिव्य-ज्योति, साधन-निष्ठ, दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

अचाह होते ही अशान्ति का अन्त हो जाता है और फिर स्वतः आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कारण कि

शान्ति ही सामर्थ्य की जननी है। अप्रयत्न से अहंकृति नाश होती है, जिसके होते ही करने का राग शेप नहीं रहता और फिर अकर्तव्य का नाश तथा कर्तव्य परायणता स्वतः आ जाती है; जिसके आते ही साधक, विद्यमान राग से रहित हो जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक असंगता तथा आत्मीयता प्राप्त कर स्वाधीनता एवं प्रेम का अधिकारी हो जाता है। इस दृष्टि से अचाह तथा अप्रयत्न एवं असंगता तथा आत्मीयता में परम शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है। पर बड़ी ही सजगतापूर्वक शान्ति तथा स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होना है; अपितु, आत्मीयता को सजीव बनाने के लिए शान्ति तथा स्वाधीरता का सम्पादन करना है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। असत् की अनुभूति और सत् में अविचल आस्था होने पर प्रत्येक साधक के लिए सत्संग सुलभ हो जाता है। और फिर साधक सुगमतापूर्वक निज विवेक के प्रकाश में इन्द्रिय-दृष्टि के उपयोग और बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित हो अचाह, तथा अप्रयत्न एवं आत्मीयता से अभिन्न हो जाता है। अर्थात् आत्मीयता से भिन्न साधक अपने में कुछ नहीं पाता है। प्रेमास्पद की आत्मीयता ही साधक का सर्वस्व है। अपने होने से ही वे अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। उनकी प्रियता में ही वास्तविक जीवन है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहैतुकी कृपालुता से प्रेरित हो प्रेमास्पद ने मानव का निर्माण किया है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की बड़ी ही महिमा है।

प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं और प्रत्येक घटना में मंगलमय विधान का

दर्शन करते हैं। प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहने का स्वभाव बना लो। मेरी सद्भावना सदैव तुम दोनों के साथ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१५५

पटना

५-१२-६१

आत्मीयता से युक्त साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा सेवा, त्याग, प्रेम को अपनाने का अथक प्रयास ही मानवमात्र का परम पुरुषार्थ है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। जिन साधकों ने निज विवेक के प्रकाश में यह भली-भाँति अनुभव किया है कि संकल्प-पूर्ति तथा अपूर्ति में मानव की भारी भूल है, उन्होंने बड़ी सुगमतापूर्वक अपने सभी संकल्पों का समर्पण कर अविचल आस्था-पूर्वक आत्मीयता स्वीकार की है। आत्मीयता में ही नित-नव अगाध प्रियता विद्यमान है। प्रियता से भिन्न जीवन है ही नहीं, पितु प्रियता में ही जीवन है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक सभी परिस्थितियों, अवस्थाओं, वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा को त्याग दुःख के भय से रहित हो एकमात्र निर्ममता से प्राप्त निर्विकारता एवं

निष्कामता से प्राप्त शान्ति तथा असंगता से प्राप्त स्वाधीनता का सम्पादन करके केवल आत्मीयता को ही अपनाता है। आत्मीयता दूरी, भेद तथा भिन्नता को खाकर योग, बोध और प्रेम से अभिन्न करती है। सत्संग मानव-मात्र का स्वधर्म है। इसी कारण प्रत्येक मानव सत्संग में सर्वदा स्वाधीन है। जो साधक अपने में अपना कुछ नहीं पाता तथा जिसे कुछ नहीं चाहिए वही आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता को प्राप्त कर कृतकृत्य होता है। ममता, कामना और तादात्मय ही असत् का संग है और निर्ममता, निष्कामता असंगता ही सत् का संग है। सत्संग से प्राप्त दिव्य-जीवन जो निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता से परिपूर्ण है उसके आश्रय का त्याग आत्मीयता से ही साध्य है। यदि साधक दिव्य-जीवन से सन्तुष्ट हो गया तो अहम्रूपी अणु का नाश नहीं होगा। इस कारण निर्विकारता आदि में सतुष्ट न होकर आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है। विश्वास-पथ की दृष्टि से आत्मीयता स्वीकार करने पर भी निर्ममता, निष्कामता, एवं असंगता प्राप्त होती है, कारण कि आत्मीयता से जागृत प्रियता स्वभाव से ही रस-रूप है। नीरसता का अन्त होते ही सभी विकार स्वतः नाश हो जाते हैं।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

……………

१५६

पटना

६-१२-६१

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सत्संग में सर्वतोमुखी विकास निहित है और सत्संग की मानव मात्र को सुविधा तथा स्वाधीनता है। कारण कि, अपने द्वारा जो करना है, उसके करने में पराधीनता नहीं है। यह स्वाधीनता मानव-मात्र को मंगलमय विधान से मिली है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग न करना मानव की अपनी भूल है। अपनी भूल को मिटाने का दायित्व मानव के रचयिता ने मानव पर ही रखा है। दायित्व पूरा करने में स्वाधीनता है, कारण कि दायित्व पूरा करने के लिए आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता आदि सब कुछ स्वतः प्राप्त होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने अपनी वास्तविक माँग का अनुभव किया है। माँग और दायित्व का पुञ्ज ही मानव का अस्तित्व है। माँग की पूर्ति होती है। दायित्व पूरा करना है। माँग की जागृति में दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के कारण माँग की विस्मृति हो जाती है—माँग का नाश नहीं होता। उस विस्मृति को मिटाने के लिए ही अभाव-जनित वेदना उत्पन्न होती है। परन्तु प्रमादवश मानव अभाव-जनित वेदना को कामना-पूर्ति के सुख से मिटाने का मिथ्या प्रयास करने लगता है; जब कि प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है। अपनी

कामना से ही मानव आप पराधीन हो गया है। निष्कामता को अपनाये बिना असंगता की अभिव्यक्ति नहीं होती। असंगता के बिना तादात्म्य नाश नहीं होता, जिसके बिना हुए सत् का संग सम्भव नहीं। सत्संग के बिना असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है। उत्पन्न हुए असाधन के नाश का प्रश्न मानव-जीवन का मौलिक प्रश्न है, जिसका हल एकमात्र सत्संग से ही है। उत्पन्न हुआ असाधन स्वत: दिखाई देता है। उसे देख उसके कारण की खोज कर उसका सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है। असाधन के रहते हुए चैन से रहना ही असाधन को पोषित करना है। असाधन-जनित वेदना साधन की उत्कट लालसा को पोषित करती है, जो विकास का मूल है। मानव की माँग साधन-निष्ठ होकर साधन-तत्व से अभिन्न होना है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है।

निर्ममता, निष्कामता एवं असंगतापूर्वक जाने हुए असत् का त्याग करना है जिसके करते ही सत् का संग स्वत: हो जाता है। अथवा अविचल आस्था, श्रद्धा विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने से भी सत् का संग हो जाता है। सत्संग होते ही समस्त जीवन साधन हो जाता है—साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व ही नही रहता। असाधन के रहते हुए ही साधक और साधन का विभाजन प्रतीत होता है। असाधन का नाश असत् के त्याग में ही निहित है। और साधन की अभिव्यक्ति, सत के संग से ही होती है। वास्तव में तो असत् का त्याग और सत् का संग जिस प्रकार युगपद् है उसी प्रकार असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युग-

पद् । साधन-तत्व से भिन्न साधक का वास्तविक स्वरूप कुछ नहीं है, अर्थात् अगाध प्रियता ही अपना जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

१५७

पटना

७-१२-६१

स्नेहमयी साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

जिओ, जागो सदा आनन्द रहो।

निर्ममता से प्राप्त निर्विकारता के तुल्य कोई अन्य सौन्दर्य नहीं है। कारण कि निर्विकारता सभी को स्वभाव से आकर्षित करती है। किन्तु प्रेमीजन अपने को निर्विकारता के अभिमान से रहित कर नित-नव प्रियता के लिए सदैव आकुल रहते हैं। प्रियता की व्याकुलता में लेशमात्र भी नीरसता नहीं है, कारण कि प्रियता की उत्कट लालसा में भी रस ही रस है। प्रियता से कभी भी निराश नहीं होना है, अपितु प्रियता के लिए नित-नव-उत्कट लालसा जगाना है जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता ही मानव की निज सम्पत्ति है। आत्मीयता में ही अनुपम माधुर्य है जो प्रेमास्पद को अत्यन्त प्रिय है। किन्तु निष्कामता के बिना आत्मीयता सजीव नहीं

होती। निष्कामता मानव-जीवन का ऐश्वर्य है। निष्काम होने पर मानव विश्व-विजयी स्वतः हो जाता है, जो एकमात्र निर्ममता से ही साध्य है, मिला हुआ अपना नहीं है—भला यह किसे विदित नहीं है अर्थात् इस वास्तविकता से सभी परिचित हैं। किन्तु जाने हुए के अनादर से मानव ममता में आवद्ध हो अनेक दोषों को उत्पन्न कर लेता है। जाने हुए के प्रभाव से ही निर्ममता प्राप्त होती है, जो विकास का मूल है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

१५८

पटना

८-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

जब प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है तब सभी परिस्थितियों में मानव स्वाधीनतापूर्वक साधन-निष्ठ हो सकता है। फिर न जाने क्यों बेचारा मानव अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन करने लगता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि ही भूल है। साधन-सामग्री को जीवन मान लेना सत् से विमुख होना है। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो उसके सदुपयोग से साधक, साधन-निष्ठ हो सकता है। साधन-निष्ठ होने में प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग हेतु है, परिस्थिति नहीं। साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती है। पर यह रहस्य वे

ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने साधन-तत्व से अभिन्न होना ही जीवन का लक्ष्य अनुभव किया है, कारण कि साधन-तत्व ही तो साधक का वास्तविक अस्तित्व है, जो एकमात्र साधन-निष्ठ होने से ही साध्य है। साधन-निष्ठ होने के लिए उत्पन्न हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति अनिवार्य है। बस इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्संग की परम आवश्यकता है। सत्संग के बिना किसी भी प्रकार से चैन से रहना भारी भूल है। सत्संग के लिए सब कुछ दिया जा सकता है और किसी भी भय तथा प्रलोभन के कारण सत्संग का त्याग साधक को नहीं करना है। जब तक साधक सत्संग को जीवन का परम पुरुषार्थ नहीं मानता, तभी तक सत्संग के बिना रह सकता है, जो वास्तव में विनाश का मूल है। सत्संग में ही जीवन है, और मानव-जीवन सत्संग के लिए ही मिला है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से साध्य है। सत्संग, श्रम-साध्य प्रयास नहीं है, अपितु विचार तथा विश्वास से ही साध्य है। इसी कारण प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। श्रमयुक्त प्रयास सभी परिस्थितियों में तथा सभी के लिए समान रूप से सम्भव नहीं है। किन्तु जिसकी उपलब्धि विचार तथा विश्वास से है, वह सभी परिस्थितियों में सभी के लिए सुलभ है। कारण कि प्रत्येक साधक में विचार तथा आस्था की सामर्थ्य विद्यमान है, अर्थात् विचार तथा विश्वास किसी न किसी अंश में मानव-मात्र को मिला है। अतः सत्संग में सभी स्वाधीन हैं—केवल उसकी भूख होनी चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१५९

पटना

६-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। तुमने बड़े ही सुन्दर ढंग से एक ही वाक्य में अपनी दशा का चित्रण किया है—"शान्त हूँ, प्रसन्न नहीं"। दूरी, भेद तथा भिन्नता में एकमात्र अहंकृति का सुख ही मुख्य हेतु है। जिसे श्रम-साध्य सुख अपेक्षित नहीं है वह साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक दूरी तथा भेद से रहित हो जाता है। यह विचारशीलों का अनुभव है। क्या तुम यह नहीं जानतीं कि दूरी तथा भेद भासित होने पर भी एकमात्र वे ही अपने हैं और उन्हीं का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इतना ही नहीं, यह सब कुछ उन्हीं की अभिव्यक्ति है, अर्थात् उन्हीं की सत्ता से सभी सत्ता पाते है। तो फिर स्वरूप से दूरी तथा भेद हो ही नहीं सकता; केवल काल्पनिक ही दूरी तथा भेद है, जो आत्मीयता से जागृत प्रियता से ही स्वतः नाश हो जाता है। प्रियता से अभिन्न हुए बिना दूरी तथा भेद का अन्त सम्भव नही है। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है। तो फिर दूरी तथा भेद का अन्त क्यों न होगा, अर्थात् अवश्य होगा। निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता, निर्ममता के ही विकसित रूप हैं। इस दृष्टि से जो कुछ मिला है वह न तो अपना ही है और न ही

अपने लिए। क्या यह तुम्हारा अपना अनुभव नहीं है ? यदि है, तो ममता नहीं है। निर्मम होते ही निर्विकारता स्वतः आयेगी, जिसके आते ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। उसमें रमण न करने से स्वाधीनता मिलती है और स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने से अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर वे अपनी प्रियता प्रदान करते है। यह मंगलमल विधान क्या तुम नहीं जानतीं कि तुम्हारे प्रसन्न न रहने से उन्हें अच्छा नहीं लगेगा। तुम कहोगी, फिर वे क्यों नही अपनी प्रियता प्रदान कर देते ? बात ठीक है, पर क्या उदार माँ भूख के बिना भोजन दे पाती है ? तुम कहोगी कि वे क्यों नही भूख लगा देते ? क्या प्रतिकूलता सुख की दासता मिटाने में हेतु नहीं है ? क्या प्रतिकूलता न चाहने पर भी अपने आप नही आती है ? प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग की अग्नि मे नही जल रहा है ? यदि ऐसा है तो संयोग में ही वियोग का अनुभव क्यों नहीं करतीं ? नित्ययोग की अभिव्यक्ति संयोग में ही वियोग का दर्शन करने से होती है। तुम कहोगी, सब कुछ ठीक है, पर मुझसे ऐसा नहीं होता। न होने की वेदना मे क्या होने की सामर्थ्य स्वतः सिद्ध नहीं है, अर्थात् अवश्य है। किसी भी दृष्टि से निराश होना नहीं चाहिए, अपितु उत्तरोत्तर उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक नित-नव आशा को जगाना है। वे सदैव तुम्हारे अपने है और तुम सदैव उन्हीं की हो। अतः उन्हीं की प्रियता होकर उन्हें नित-नव रस प्रदान करो। अपने लिए ही उन्होने तुम्हारा निर्माण किया है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। तुम कभी मत सोचो कि तुम उनकी नित्य प्रिया नही हो और वे तुम्हारे प्रियतम नहीं हैं। वे तुम्हें प्रियता प्रदान करे, तुम उन्हें रस प्रदान करो, यही मेरी सद्भावना है। प्रीति और प्रीतम के

नित्य-विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१६०

पटना
११-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक दशा में त्याग तथा प्रेम की गंगा लहराती रहे।

जिसका कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही सुगमता-पूर्वक उन्हें अपना मान पाता है जिन्हें वह नहीं जानता है। जाना हुआ जो कुछ है, उनका है। इतना ही नहीं, वे उसमें हैं। इस कारण उनके नाते सभी प्यारे हैं। ज्यों-ज्यों प्रीति का प्रभाव सबल तथा स्थायी होता जायगा त्यों-त्यों उससे भिन्न जो कुछ है, उससे असंगता स्वतः होती जायगी। असंगता साधक को चिन्मय-साधन में प्रवेश कराके स्वतः मिट जाती है और केवल आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता शेष रहती है। प्रीति ने प्रियतम से भिन्न को देखा ही नहीं। इस कारण प्रीति की अभि-व्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता है। प्रीति में ही प्रीतम की नित्य

अभिव्यक्ति है और प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है। प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१८१

पटना

१४-१२-६१

देहातीत दिव्य-ज्योति साधन-निष्ठ प्रिय बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

"है" में प्रियता होते ही "नहीं" की आसक्ति मिट जाती है, और मिले हुए से असंगता होती है। जिसके होते ही "है" से अभिन्नता हो जाती है। "है" की अभिन्नता में ही अगाध प्रियता निहित है, जो वास्तविक जीवन है। प्रत्येक दशा में वास्तविकता के लिए आकुल तथा प्रयत्नशील रहना है। सफलता अनिवार्य है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार। मेरी सद्भावना सदैव सभी साधकों के साथ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

१६२

भागलपुर
१८-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा साधन-निष्ठ प्रिय बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है, कारण कि सत्संग से ही असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। अचाह तथा अप्रयत्न एवं अभिन्नता सत्संग का वास्तविक स्वरूप है। अचाह तथा अप्रयत्न होते ही अभिन्नता स्वतः आ जाती है। अभिन्नता से ही योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, यह मंगलमय विधान है। स्नेहमयी दुलारी बेटी····की चिकित्सा तो कराना ही है। अध्ययन का श्रम, रोगी शरीर, भला, लड़की से कैसे गाड़ी चलेगी! हाँ, यदि तप समझकर प्राकृतिक चिकित्सा का आहार-विहार बनाये, तो बिना औषधि के भी ठीक हो सकती है। स्वास्थ्य के लिए श्रम, संयम दोनों ही आवश्यक हैं। किन्तु संयम उत्साह तथा सहर्ष हो। जिस कार्य में कर्ता को रस मिलता है, उसका प्रभाव शरीर के लिए उपयोगी होता है। ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुमान है। निश्चिन्तता, निर्भयता तथा प्रियता में ही वास्तविक जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
······ ·······

१६३

मुंगेर
१५-१२-६१

प्रीतिस्वरूपा साधन-निष्ठ, दुलारी बेटी,

सस्नेह अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार।

मानव-जीवन का मौलिक प्रश्न है कि जीवन में निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति हो। चिन्ता, भय तथा नीरसता किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। निर्ममता तथा निष्कामता एवं असंगता के बिना निश्चिन्तता नहीं आती और निश्चिन्त हुए बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह मंगलमय विधान है। ममता, कामना तथा तादात्म्य का नाश करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है। कारण कि ये तीनों निर्बलताएँ भूल-जनित हैं—प्राकृतिक नहीं। भूल-जनित दोषों की निवृत्ति जाने हुए असत् के त्याग से ही होती है, जिसके करने में मानवमात्र स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता मानव को उसके निर्माता ने स्वतः प्रदान की है। इस दृष्टि से भूल का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए सर्वदा सुलभ है। किन्तु जब तक मानव प्रमादवश भूल-जनित सुख-लोलुपता को अपनाता है, भूल का मिटाना दुर्लभ प्रतीत होता है। भूल-जनित वेदना भूल-जनित सुख-लोलुपता के नाश में हेतु है। सुख लोलुपता का अन्त होते ही भूल स्वतः नाश हो जाती है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकारता, परमशान्ति और स्वाधीनता से अभिन्न होकर अगाध प्रियता का अधिकारी हो जाता है। अर्थात् जिसका कुछ भी नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक आस्था,

श्रद्धा, विश्वास के द्वारा आत्मीयता स्वीकार करने में समर्थ होता है।

यह सभी को विदित है कि आत्मीयता में अगाध प्रियता है, जो वास्तविक जीवन है। यह कैसे आश्चर्य है की बात है कि उनकी दी हुई वस्तुओं को अपना मानते हैं और उन्हें अपना नहीं मानते। यह जानते हुए भी कि कामना-पूर्ति में पराधीनता तथा अभाव है, फिर भी निष्काम होने में हिचकिचाते हैं। निर्मम तथा निष्काम हुए बिना असंगता सम्भव नहीं है। असंगता के बिना समता तथा चिन्मय-साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो सर्वतोमुखी विकास में हेतु है।

अल्प-सामर्थ्य होने पर अल्प-साधन से सिद्धि मिलती है। यह कैसा अनुपम मंगलमय विधान है। अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित होते ही असत् का त्याग तथा सत् का संग स्वतः हो जाता है और फिर अपने आप असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। जाने हुए का अनादर करने से ही मानव की दुर्दशा हुई है। अतः प्रत्येक साधक को जाने हुए का आदर करना अनिवार्य है। सुने हुए में आस्था, जाने हुए का आदर एवं मिले हुए का सदुपयोग करने से सभी को सब कुछ मिलता है। यह मंगलमय विधान है।

इस दृष्टि से जाने हुए का अनादर, सुने हुए में अश्रद्धा और मिले हुए का दुरुपयोग ही विनाश का मूल है, जिसका अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

१६४

गाजीपुर
७-१-६२

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

शान्ति का सम्पादन होने से विस्मृति स्वतः नाश हो जाती है, जिसके होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

असत् के ज्ञान में ही असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है। असत् का त्याग तथा सत् का संग युगपद् है। ज्ञान असत् का ही होता है, और संग सत् का होता है। सत्, असत् का प्रकाशक है, और असत् का ज्ञान असत् का नाशक है। अतः असत् के ज्ञान से ही असत् की निवृति होती है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा
....

१६५

बांकुड़ा

१६-१-६२

सभी अवस्थाओं से अतीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो ।

ममता तथा कामना से रहित हुए बिना न तो प्राप्त का सदुपयोग ही हो सकता है और न प्रेमास्पद की आत्मीयता ही सजीव होती है । निज विवेक का आदर करते हुए दृढ़ता-पूर्वक ममता तथा कामना का त्याग कर देना है, जिसके करते ही मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगेगा, और अपने में प्रेमास्पद की आत्मीयता से भिन्न कुछ नहीं रहेगा । उनकी आत्मीयता ही तो अपना जीवन है । आत्मीयता स्वतः प्रियता में परिणत होती है । यह मंगलमय विधान है ।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उनकी नित्य प्रिया हो। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे । प्रीति की माँग ही अपनी माँग है । सभी प्रवृत्ति पूजा है । पूजा का अन्त स्वतः प्रीति में होता है, कारण कि क्रिया भाव में, भाव आत्मीयता में और आत्मीयता प्रियता में विलीन होती है । भला अपने, अपने को प्रिय न लगेंगे ? क्या उनकी प्रियता से भिन्न भी कोई जीवन है ? कदापि नहीं ।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उन्हीं की वस्तु है । उसके द्वारा विश्वरूप प्रभु की सेवा करना है, और अपने द्वारा उन्हें रस प्रदान करना है, जो एकमात्र आत्मीयता से जागृत प्रियता से ही साध्य है । प्रतिपल प्रियता की भूख बढ़ती रहे, अथवा

प्रियता की ही माँग रह जाय, करने और होने से असहयोग हो जाय, कारण कि करने की रुचि देह से तादात्म्य उत्पन्न करती है। इस कारण अचाह, अप्रयत्न तथा आत्मीयता ही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है। उनकी महिमा में अविचल आस्था और अपनी असमर्थता का अनुभव युगपद है।

साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, अपितु नित-नव आशा का संचार ही विकास का मूल है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है। उनकी दी हुई प्रियता ही उनके लिए उपयोगी होती है। अतः प्रियता की माँग ही अपनी माँग है और उसी में जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१६६

वृन्दावन

२०-२-६२

चिन्मय-धाम-विहारिणी प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु विश्व की सेवा तथा प्रभु की प्रीति हो। यद्यपि यह मानव-मात्र की बात है, परन्तु वे ही साधक यह रहस्य जान पाते हैं जिन्होंने, वर्तमान सभी का निर्दोष है—इसमें अविचल आस्था की है और जो सब

प्रकार से उन्हीं के होकर रहते हैं जो सभी के अपने हैं; इतना ही नहीं, आत्मीयता ही जिनका जीवन है, जिन्होंने विवेकपूर्वक ममता तथा कामना का सदा के लिए अन्त कर दिया है। जिनकी महिमा का पारावार नहीं है वे ही तो सभी के अपने हैं। उनकी आत्मीयता पाकर क्या कुछ और पाना शेष रहता है ? अपने होने से वे अपने को स्वभाव से ही प्रिय हैं। उनकी प्रियता ही मानव का जीवन है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

प्रीति-निर्मित दृष्टि से ही अपने प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो। अनेक भाव से उन्हीं के साथ खेलो। उनसे भिन्न की सत्ता ही नहीं है। सर्व-रूप वे ही हैं। प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रीति में ही प्रियतम का नित्य वास है और प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१६७

हरिद्वार

२६-२-६२

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

शरीर सेवा-निधि है। उसकी रक्षा करना पूजा है, पर उसकी ममता भूल है। अतः निर्मम होकर प्रत्येक कार्य को

विधिवत् करने का स्वभाव बनालो। यही सफलता की कुंजी है।

क्या तुम यह नहीं जानतीं कि मीठापन सभी मिठाइयों में चीनी का है, मिठाइयों का नहीं। उसी प्रकार जिस किसी में जो कुछ विशेषता है वह प्यारे प्रभु की ही है जो तुम्हारे अपने हैं और तुम उनकी प्रीति हो।

प्रीति का ही क्रियात्मक रूप सेवा है। अतः प्रीति से अभिन्न होकर प्रियतम के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग वास्तविक सेवा है। आगे-पीछे का चिन्तन व्यर्थ है। वर्तमान का सदुपयोग ही मूल मंत्र है। जो मिला है उसका सदुपयोग कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ—बस यही सफलता की कुंजी है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१६८

हरिद्वार

७-४-६२

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

शरीर अनेक व्याधियों का घर ही है। इसी कारण विचार-शील मानव निर्ममता, निष्कामता एवं अहंकृति-रहित होकर

शरीर से असंग हो निर्विकारता, परम-शान्ति, अपरिच्छिन्नता आदि दिव्य-जीवन से अभिन्न हो कृत-कृत्य हो जाते हैं। शरीर विश्व-रूपी सागर की लहर है, उसे विश्व के ही समर्पित करना है; तभी शरीर से छुटकारा मिलता है।

जो अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है उसकी आवश्यकता अनुभव करना ही वास्तव में प्रमाद है। उसके सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है।

वास्तव में तो परिस्थितियों का सदुपयोग ही विकास का मूल है। प्रत्येक दशा में नित-नव उत्साह बढ़ता रहे। आस्तिक के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि समस्त विश्व में अपने प्यारे की ही अनुपम लीला है, अर्थात् आस्तिक की दृष्टि में जगत् अपने प्यारे का प्यारा है, पर अपना नहीं है। इसी कारण आस्तिक का जीवन नित-नव प्यार से भरपूर रहता है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

१६६

हरिद्वार

१४-४-६२

दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

जो वर्तमान पूजा मिली है उसे यथाशक्ति करती रहो। आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन निकाल दो। जब जहाँ रहना होगा, वही ठीक होगा। गंगा-तट की दृष्टि से तो हरिद्वार, ऋषिकेश-स्वर्गाश्रम आदि स्थान ही ठीक हैं।

वास्तव में तो कार्यक्रम निश्चित ही है। पर उसका अनुभव उन्हीं साधकों को होता है जिनका अपना कोई संकल्प नहीं रहता। अतः अपना संकल्प न रख कर जो हो वही ठीक है। वर्तमान का सदुपयोग करो और सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो, जिनकी तुम प्रीति हो, बस यही मानव का पुरुषार्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१७०

ऋषिकेश
१४-४-६२

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

अब रही शारीरिक परिश्रम की बात—कम से कम एक सप्ताह के लिए मानव को नौकरों की दासता से मुक्त रहना चाहिये, अर्थात् संघ के आठवें नियम के अनुसार कुछ क्रियात्मक-रूप रखना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी को वह करना चाहिए जिसे वह नहीं कर सकता। परन्तु कुछ लोग अर्थ के अधीन श्रम का अनादर कर रहे हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि आज कार्यकुशलता दिन पर दिन घटती जा रही है। लोग काम करने को अच्छा नहीं मानते। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि अर्थ का महत्व बढ़ गया है, जिसने मानव-समाज में संग्रह की रुचि उत्पन्न कर दी है। संग्रह अभिमान तथा विलास को जन्म देता है, जो विनाश का मूल है। सभी साधक मिल कर कार्य करें, मिल कर रहें और परस्पर विचार विनिमय द्वारा जीवन की समस्याओं को हल करें।

प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति निहित है। इस विधान में अविचल आस्था रखने से कर्तव्य भार नहीं होता, अपितु सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्हें अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है। पर इस विधान में आस्था तो सभी साधक कर सकते हैं।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है, इसी ध्रुव सत्य के कारण जो हो रहा है वही ठीक है। जिससे दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं है उसी में जीवन है। यह अनुभव मानव को सभी परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर देता है। प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता से अभिन्न हो सकता है। यह मानव के रचयिता की अहैतुकी कृपालुता है। न जाने मानव उन्हें इतना प्रिय क्यों है! जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो वह ठीक करो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द!

तुम्हारा

....

१७१

ऋषीकेश
५-५-६२

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

स्वावलम्बन मनन में बाधक नहीं होगा; कारण कि श्रम का समय उतना ही होगा जितना साधक सुविधापूर्वक कर सकेगा। मनन जब जागृत होता है तब हाथ काम में और दिल राम में रहने लगता है। क्रिया समष्टि शक्तियों से हो

रही है, भाव साधक का अपना है—उसी से क्रिया, भाव में और भाव, लक्ष्य में विलीन हो जाता है।

प्रत्येक घटना में अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो और मूक होकर उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो। वे अपना दिया हुआ पाकर ही मोहित होते हैं। भला उन्हीं का दिया हुआ उन्हें देकर प्रसन्न करना भी किसे अभीष्ट न होगा! तुम किसी भी काल में उनकी प्रीति से कुछ भिन्न नहीं हो। प्रीति में ही प्रीतम का नित्य वास है और प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है। मानव अपनी भूल से ही प्रीतम से विमुख हो गया है और कुछ नहीं।

भूल को भूल जानते ही भूल सदा के लिए मिट जाती है। अत: जीवन में चिन्ता तथा भय एवं निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

पुन: तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

१७२

वृन्दावन
५-८-६२

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का दर्शन करना है। समस्त निर्बलताएं भूलजनित और गुण प्राकृतिक हैं। इस तथ्य में अविचल आस्था करना है। सत्संग से ही एकमात्र भूल नाश होती है, जो मानव-मात्र के लिए सहज तथा स्वाभाविक है।

निज अनुभव के आदर एवं निर्विकल्प आस्था में ही सत्संग निहित है। भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर उन्हें भूल जाना है। वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था कर निश्चिन्त तथा निर्भय रहना है। वर्तमान कार्य सर्व-उत्कृष्ट कार्य है; इतना ही नहीं, आस्तिक की पूजा है, विवेकी का साधन है और भौतिकवादी की कर्तव्यपरायणता है। जो नहीं कर सकते उसे नहीं करना है—पर जो नहीं करना चाहिए उसका सर्वांश में नाश होने पर जो करना चाहिए उसके करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। क्या नहीं करना है—सुख की आशा, दुःख का भय, किसी के प्रति भी राग तथा द्वेष न हो। सभी से असंगता अथवा सभी में आत्मीयता सुरक्षित रखना है। यद्यपि सुख की आशा के लिए कोई अपना नहीं है, पर किसी न किसी नाते सभी अपने है। जिसके नाते सभी अपने हैं वे अपने होने से अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। उनकी प्रियता में ही जीवन है।

और उन्हीं के नाते सभी प्यारे हैं। सभी को आदर देना है। कटुता के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं है। दोष तथा क्रोध की गन्ध भी न हो तभी चित्त शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ होता है। जो अभिनय मिला है, करती रहो। उसे देख मालिक प्रसन्न होगा, अपनायेगा। उसका दिया हुआ अभिनय मंगलमय है। मानव सदैव उनको प्रीति और उन्हें मानव अत्यन्त प्यारा है। इस तथ्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। उन्हें मानव प्यारा है, वे मानव को प्यारे है। इस रहस्य के स्पष्ट होने में ही वास्तविक जीवन निहित है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द !

तुम्हारा

....

१७३

वृन्दावन
१५-८-६२

अवस्थातीत अनन्त की अगाध प्रियता, दुलारी बेटी,

प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा अनेक रूपों में अपने ही प्रेमास्पद की पूजा करते हुए सर्वदा प्रियता होकर उन्हीं को रस प्रदान करती रहो —यही मेरी सद्भावना है।

किसी के प्रति की हुई सद्भावना कभी नाश नही होती। तुम्हारी सद्भावना कभी-न-कभी मूर्तिमान होकर अभिव्यक्त

होगी, कारण कि सद्भावना ही वास्तविक सेवा है। किसी की असफलता अपनी असफलता के समान पीड़ित करे, इसी में पर-हित निहित है।

अचेतन मन में प्राप्त गुणों का भोग अहं की पूजा, लोकरंजन तथा आत्मख्याति के रूप में छिपा रहता है। पर यह रहस्य कोई बिरले ही साधक जान पाते हैं। प्रियता से क्रिया कम हो तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सजगता आ जाती है। क्रिया का वेग प्रियता में शिथिलता उत्पन्न करता है। प्रियता की न्यूनता हृदय में क्रिया के प्रभाव को स्वीकार नहीं होती। उसी दशा में यह भास होने लगता है कि ऊपरी क्रियात्मक सेवा एक प्रकार का तिरस्कार है। हृदय प्रीति का पुजारी है। प्रीति भेद और भिन्नता की नाशक है। स्थूल शरीर की दृष्टि से क्रियात्मक-सेवा भले ही सुखद प्रतीत होती है किन्तु मानव की वास्तविक मांग तो प्रियता ही है जो एकमात्र गुणों के अभिमान से रहित होने पर ही जाग्रत होती है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से गुणों के अभिमान का अपहरण कर अपनी आत्मीयता प्रदान करें—यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१७४

जयपुर

२०-८-६२

सभी अवस्थाओं से अतीत प्रीतिस्वरूपा दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्‌भावना है, जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। चिर-विश्राम, स्वाधीनता और प्रियता में ही रस का स्रोत है—इसमें स्वरूप-भेद नहीं है। जिसका कोई अपना है, उसमें नीरसता के लिए कोई स्थान ही नहीं है तथा निश्चिन्तता एवं निर्भयता भी स्वतः सिद्ध हैं। इन तीनों में विभाजन नहीं हो सकता—रस की भूख किस श्रेणी की है उसी के आधार पर विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रियता का रस है। इनमें से किसी की भी अभिव्यक्ति हो जाने पर सभी स्वतः आ जाते हैं। न जानते हुए भी जो मानवमात्र का अपना है और जानी हुई कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, इन दोनों ही निष्ठाओं से स्वतः रस की अभिव्यक्ति होती है। पर साधक मे नित-नव रस की भूख उत्त-रोत्तर बढ़ती रहे जो एकमात्र सत्सग से ही साध्य है। माँग की जागृति शान्ति को भंग नहीं करती, अपितु शान्ति में रमण नहीं करने देती। मांग की जागृति मात्र से ही निर्ममता एवं निष्कामता पुष्ट होती है, जो एकमात्र निर्विकारता एवं परम शान्ति की जननी है। जो अपने हैं ही, भला वे कभी अपने को भूल पाते हैं! उनमें भूल की गन्ध भी नहीं है। किन्तु उनके दिये हुए सीमित सौन्दर्य को पाकर साधक ही उन्हें भूलता है। पर प्रतिकूलता के रूप में अभिव्यक्त होकर वे साधक की भूल को स्वयं खोलते है। जिनकी महिमा तथा कृपालुता का पारा-

वार नहीं है, वे ही तो अपने हैं। उनकी आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता में ही तो जीवन है। वे तुम्हारे हैं—तुम सदैव उन्हीं की हो। इसमें विकल्प के लिए कोई स्थान ही नहीं है। उनकी होकर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। उनके हो जाने में ही तुम्हारे प्रयास की परावधि है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार। जो तुम्हारे हैं वे तुम्हें उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता प्रदान करें। यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१७५

बलिया
२४-११-६२

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटो,

सर्वदा अनन्त की प्रीति हो विश्व की सेवा करती रहो। प्रीति ही तुम्हारा निज स्वरूप है और सेवा उसी का क्रियात्मक रूप है। तुम्हें अपने लिए कुछ नहीं करना है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्तव्य की पूर्णता है। मानव-समाज में सोई हुई मानवता जग जाय, इसीलिए सब कुछ करना है। भयभीत तथा चिन्तित होने से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं हो सकता। अतः विचारपूर्वक भय तथा चिन्ता से दूर होना अनिवार्य है। परिस्थिति के सदुपयोग की

कला आजाने पर प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग सुगमतापूर्वक हो सकता है। सुख में सजग और दुःख में अभय रहना अनिवार्य है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन में अविचल आस्था रखो। इतना ही नहीं, प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग की सामर्थ्य देकर ही मानव को, उसके रचयिता ने भेजा है। अतः तुम वह अवश्य कर सकती हो जो तुम्हें करना है। तुम्हारा हृदय बहुत कोमल है, इस कारण प्रतिकूलताओं को देख अधीर हो जाती हो। प्रत्येक घटना में अपने प्यारे को देखो। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं।

हिन्दुस्तानी लोग छोटे-छोटे सुख में फँसकर भारत माँ की सेवा भूल गये और चीनी लोग मिथ्या अभिमान में आवद्ध हो गये हैं। दोनों देशों के हित के लिए ही यह प्रतिकूलता आई है। जो सजग हो जायेंगे वे सफल हो जायेंगे। मानव-समाज की दुर्दशा का कारण उसकी अपनी ही भूल है, जो एक मात्र सत्संग से ही मिट सकती है। सत्संग में ही मानव का अधिकार है। तुम्हें जो कार्य मिला है उसे पवित्र भाव से करती रहो। सफलता अनिवार्य है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। तुम अकेली नहीं हो, तुम्हारा प्रेमास्पद सदैव तुम्हारे साथ है। सब ओर से विमुख होकर उसे देख लिया करो। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

१७६

आगरा
५-१२-६२

सभी अवस्थाओं से अतीत, प्रीतिस्वरूपा श्रीप्रिया,

सर्वदा अनन्त को लाड लड़ाई हुई रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा नित्य सम्बन्ध जिससे है वह सदैव सर्वत्र तुम्हारे साथ है। तुम उन्हीं की प्रीति हो। देह से तुम्हारी मानी हुई एकता है, जो एकमात्र अविचार से ही उत्पन्न हुई है। तुम विचारपूर्वक उस मानी हुई एकता का अन्त कर, जिससे तुम्हारी जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है उन्हीं की आत्मीयता को अपनाकर अगाध प्रियता को जगा दो। बस यही तुम्हारा वास्तविक जीवन है।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। इसके सदुपयोग में ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। प्रवृत्ति में सेवा एवं निवृत्ति में प्रीति ही तुम्हारा जीवन है; इसके लिए नित-नव आशा का संचार होता रहे। सफलता अनिवार्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१७७

वृन्दावन
१९-१२-६२

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अपने ही में अपने को पाकर लाड़ लड़ाती रहो। यही मानव-जीवन की पूर्णता है।

मानव की व्यक्तिगत मांग चिन्ता, भय तथा नीरसता से रहित होना है, जिसकी उपलब्धि एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। जो अपना है, वह सदैव अपना है और अपने में ही है। उससे देश-काल की दूरी नहीं है। उसकी विस्मृति असत्य के संग से हुई है, जो प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु अपनी ही भूल है। जो कभी भी अपना नहीं है उसे अपना मान बैठना और जो सदैव अपना है उसमें अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार न करना, क्या अपनी भूल नहीं है? इस भूल का अन्त प्रत्येक मानव को प्रत्येक परिस्थिति में करना है। बस यही सत्संग है, जिसकी स्वाधीनता मानव के रचियता ने उसे जन्मजात् प्रदान की है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। जो सदैव अपने ही है, अपने में ही हैं, उनकी आत्मीयता में ही जीवन है। अपने ही द्वारा तुम अपने को अपने में पाओ और उन्हीं की प्रीति हो जाओ, यही मेरी सद्भावना है। सभी को सप्रेम यथोचित।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

१७८

प्रयाग
१६-१-६३

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यही मेरी सद्भावना है।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। समाचार विदित हुआ। प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की अनुपम लीला का दर्शन करना है और प्रत्येक वर्तमान कार्य से उन्हीं की दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से विश्व रूप में उन्हीं की पूजा करनी है। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप उन्हीं की दिव्य प्रीति है। प्रीति से भिन्न तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। तुम सदैव उनकी, और वे तुम्हारे हैं। यह ध्रुव सत्य है।

मानव भूल से अपने को देह मान लेता है। वास्तव में तो उसके रचयिता ने प्रीति देकर ही मानव का निर्माण किया है। प्रीति का ही क्रियात्मक रूप सेवा और विवेकात्मक रूप त्याग है, अर्थात प्रीति ही सेवा तथा त्याग के रूप में परिणत होती है। इसी कारण मानव सेवा, त्याग एवं प्रेम का पुंज है। प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार न करो। सभी में सर्वत्र सर्वदा तुम्हारे प्रीतम ही ओत-प्रोत हैं। तुम प्रीति से अभिन्न होकर ही उन्हें अपने में पाओगी। उनकी मधुर स्मृति में ही तुम्हारा सर्वतोमुखी विकास निहित है। प्रत्येक दशा में अखण्ड स्मृति होती रहे, यह तभी सम्भव होगा जब तुम अपने को

उनकी प्रीति स्वीकार करो। होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा है। निवृत्ति में स्वतः स्मृति सबल होती है। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्रीति से कभी भी निराश नहीं होना है, अपितु नित-नव उत्कण्ठा बढ़ती रहनी चाहिए। विस्मृति स्मृति से ही नाश होती है, किसी अभ्यास-विशेष से नहीं। प्रीति और प्रियतम में जातीय तथा स्वरूप की एकता एवं नित्य-सम्बन्ध है। अपने होने से ही वे अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। यही प्रीति की जागृति का मूल मंत्र है। नित-नव आशा प्रीति की भूख को तीव्र बनाती है। प्रीति-निर्मित दृष्टि से प्रतिपल प्रियतम की अनुपम छटा नित-नई भासित होती है। प्रीति ही में जीवन है। यद्यपि वे सभी के अपने हैं, पर यह अनुभव कि वे अपने हैं प्रीति ही से सिद्ध होता है। प्रेमियों ने ही उन्हें अपना करके स्वीकार किया है। प्रेमियों की सद्‌भावना सदैव सभी प्रेमियों के साथ है। अतः तुम उन्हीं की नित-नव प्रीति हो—यह निर्विवाद सत्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

यह तुम्हें ज्ञात ही है कि साधक के प्रति जगत की उदारता, सत्पुरुषों की सद्‌भावना एवं अनन्त की कृपालुता सदैव रहती है। अतः साधकों के सभी आवश्यक संकल्प पूरे होकर नाश हो जाते हैं, और अनावश्यक उत्पन्न ही नहीं होते। यदि किसी अनावश्यक संकल्प की प्रतीति हो तो समझना चाहिए कि उत्पन्न हुआ निकल रहा है—नवीन उत्पन्न नहीं हो रहा है। उनके नाते प्रत्येक कार्य साधन तथा भजन है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार। निकटवर्ती प्रियजनों को यथोचित।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

१७६

देहरादून
६-४-६३

देहातीत प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,
जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

यहाँ आने पर पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। यात्रा की घटना का समाचार जान, यह भास हुआ कि उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। प्रत्येक कार्य में सजगता अनिवार्य है। तुमने सुना ही होगा कि एक बार प्यारे श्यामसुन्दर ने अपनी मैया को सिखाने के लिए अपने ही द्वारा अपनी सेवा-सामग्री तोड़-फोड़ डाली, दूध-दही बिखरा दिया, जिसे देख वात्सल्य स्नेह से निर्मित श्री नन्दरानी जी क्षोभित हो गईं और अपने प्राण-प्यारे दुलारे लाला को दण्ड देने के लिए तत्पर हो गईं। अपने प्रिय की सेवा-सामग्री कभी-कभी प्रिय से भी प्यारी लगती है, यह मानव-स्वभाव है। किन्तु प्यारे को तो अपनी प्रियता ही सबसे अधिक भाती है। उसके जगाने के लिए ही वे अपनी अनुपम लीला करते रहते हैं।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। उनकी लीला को देखो, मधुर स्मृति जगेगी—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

पुनः सद्भावना-सहित बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१८१

अजमेर
१७-८-६३

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ जागो, सदा आनन्द रहो।

यह वैधानिक तथ्य है कि जो जिसका होता है वह उसे स्व-भाव से ही प्रिय होता है। अतएव हम सब जिसके हैं उसे हम सभी स्वभाव से प्रिय हैं। इस दृष्टि से तुम उन्हें अत्यन्त प्रिय हो। उनकी दी हुई प्रियता से उन्हें लाड़ लड़ाती रहो। यही इस जीवन की सार्थकता है। प्यार मिलने पर भी वे उतने प्यारे नहीं लगते जितना लगना चाहिये, यही तो शरणागत की गहरी व्यथा है। रोम-रोम से निरन्तर यही माँग रहे—"प्रेमास्पद अपना प्यार दो।"

बाह्य रूप से जो कुछ मिला है वह सेवा-सामग्री है। उसका सद्व्यय होता रहे और उनकी प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तभी इस जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने ही में से मानव का निर्माण किया है। मानव उन्हें कितना प्यारा है, उसकी गणना सम्भव नहीं है। उनका प्रेम निरन्तर बरस रहा है—उनके प्रेम का पारावार नहीं है। प्रेमदाता प्रेम देकर प्रेमी बना रहे हैं। प्रेमी होकर प्रेमी बनाना ही उनका स्वभाव है। प्रेमास्पद ही वास्तव में प्रेमी हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब शरणागत उनकी महिमा में अविचल आस्था और अपनी निर्बलता का परिचय पाता है। उन्होंने विवेकरूपी प्रकाश तथा बुद्धिरूपी दृष्टि देकर भूल का परिचय तथा भूल-रहित होने का अवसर दिया, जिससे निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य-जीवन से

अभिन्नता हुई। उनकी कृपालुता का पारावार नहीं है। उदारता तथा आत्मीयता प्रदान कर जगत के लिए तथा अपने लिए उपयोगी बनाया। उनकी महिमा अनन्त तथा अपार है। वे कितने अच्छे हैं, इसके लिए जितना कहा जाय, कम है। उनकी निर्मित सृष्टि भी बड़ी ही सुन्दर है। इतना ही नहीं, वे ही अनेक रूपों में नित-नव लीला कर रहे हैं। हे लीलाधारी! शरणागतों को निरन्तर अपनी प्रियता देते रहो, जिससे वे तुम्हारी दी हुई प्रियता से तुम्हें रस प्रदान करते रहें। हे रसिक-शिरोमणि! तुम बड़े ही रसीले हो। अपने निज रस से रस की वर्षा करते रहो। रस के आदान-प्रदान में ही जीवन है। नीरसता का अत्यन्त अभाव कर निष्काम बनाकर अपनी आत्मीयता का पात्र बना लो। तभी मानव, मानव होकर सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। हे लीलामय, ऐसी लीला कर मानव-समाज को उदारता, स्वाधीनता एवं अगाध प्रियता से परिपूर्ण कर कृतकृत्य कर दो, जो एकमात्र आपकी अहैतुकी कृपा से ही संभव है। कृपा-पालित मानव को अपने प्रेम का पात्र बनाओ, तभी आपकी लीला पूर्ण होगी। यद्यपि मैंने आपकी कृपा का दुरुपयोग किया है, परन्तु अब मेरा कोई आश्रय भी तो नहीं है। हे सर्वाधार, सर्व-आश्रयदाता अपनी ओर देख अपनाओ—यही अन्तिम माँग है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। निकटवर्ती प्रियजनों तथा सत्संग-प्रेमियों को सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१८२

बम्बई

२९-८-६३

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो ।

तुम निस्सन्देह अनन्त की अनुपम खिलौना हो। अपने खिलाड़ी को रस प्रदान करती हुई, सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। उन्होंने तुम्हारा निर्माण अपने में से ही किया है। तुम्हारी उनकी जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है। तुम उनकी प्रीति और वे तुम्हारे प्रियतम हैं। उन्हें तुम अत्यन्त प्रिय हो और वे तुम्हारे जीवन हैं। उनकी विस्मृति ही साधक की भारी भूल है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है, जो एक-मात्र सत्संग से ही साध्य है। विनाशी का संग करने में साधक सदैव स्वाधीन है। विनाशी की असंगता में अविनाशी की आत्मीयता स्वतः सिद्ध है। सेवा-पूजा के अन्त में स्वभाव से ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है, और फिर प्रिय की मधुर स्मृति स्वतः जागृत हो प्रीति से अभिन्न करती है। प्रीति और प्रियतम के नित्य-विहार में ही जीवन की पूर्णता निहित है। श्रद्धा और सजगता से सेवा-पूजा सजीव होती है। श्रद्धा आत्मीयता की और सजगता असंगता की जननी है। सजगता से साधक श्रद्धा का अधिकारी होता है और श्रद्धा से सजगता स्थायी होती है। इन दोनों में परस्पर अभिन्नता है, भिन्नता नहीं। हृदय और मस्तिष्क की भिन्नता ने ही जीवन

में द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न कर दी है। अतः इन दोनों की एकता में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। इन्द्रिय एवं बुद्धि-दृष्टि से जो-जो दिखाई देता है, उस पर अपने प्रियतम की सील लगा दो। फिर तो प्रत्येक दृश्य उनकी स्मृति जगाने में हेतु बन जायगा। सब कुछ उन्हीं का तो है। इतना ही नहीं, सभी में वे ही तो हैं और तुम उन्हीं कि नित्य प्रिया हो। तुम्हारे प्रियतम तुम्हें अपनी प्रीति प्रदान करते रहें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। अपने खिलाड़ी की खिलौना होकर उन्हें रस प्रदान करती रहो। किसी प्रेमी का वचन है कि उनके मत्थे पड़ जाओ, अर्थात् अपने को सब प्रकार से उन्हीं के अर्पित कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। अपने में उनकी आत्मीयता से भिन्न कुछ न रह जाय। बस यही सफलता की कुंजी है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१८३

बम्बई

३१–८–६३

अहैतुकी कृपा से निर्मित प्रीतिस्वरूपा श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

प्रियता ही तुम्हारा स्वरूप है। प्रेमास्पद ने अपने ही में से प्रीति देकर तुम्हारा निर्माण किया है। उनकी आत्मीयता ही तुम्हारा जीवन है। उन्हें रस देना ही तुम्हारा स्वभाव है। अपने से निर्मित प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति उन्हें अत्यन्त प्रिय है। प्रीति और प्रीतम से भिन्न कभी कुछ हुआ ही नहीं। अनेक रूपों में, अनेक प्रकार से प्रीति और प्रियतम की नित-नव लीला निरन्तर हो रही है। यह रहस्य सत्संग से ही स्पष्ट होता है। अपने में अपना करके कभी कुछ नहीं था और न है। सब कुछ उन्हीं का है और वे ही हैं। प्रत्येक दृश्य उनका होने से उनकी मधुर स्मृति जगाने में समर्थ है। स्मृति में ही जीवन है। इतना ही नहीं, स्मृति ही जीवन है। दूरी, भेद, भिन्नता का नाश स्मृति की जागृति में स्वतः हो जाता है।

हे दिव्य-ज्योति ! जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। अनेक रूपों में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो, और प्रियता होकर प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, नित-नव रस देकर उन्हें अपनाती रहो। नित्य मिलन तथा

नित्य वियोग से प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे—इसी सद्भावना-सहित बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१८४

वृन्दावन
२७-९-६३

साधन-निष्ठ दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

समस्त सृष्टि जिससे निर्मित है वह सभी का अपना है। उसे अपनी सृष्टि अत्यन्त प्रिय है, कारण कि अपना निर्माण अपने को स्वभाव से ही प्रिय होता है। इतना ही नहीं, उसने तो अपना निर्माण अपने में से ही किया है। अत: सभी साधक उसे अत्यन्त प्रिय हैं। तो क्या वे हमें अत्यन्त प्रिय नहीं होने चाहिए? उनकी दी हुई प्रियता ही उन्हें देना है। यदि कोई साधक मिली हुई साधन-सामग्री से साधन-निष्ठ नहीं होता, तो यह उसकी अपनी भूल है। साधक के जीवन में भूल के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इसी दृष्टि से मानव सेवा संघ ने प्रत्येक कार्य के पूर्व और अन्त में सत्संग की प्रेरणा दी है। सत्संग से उदित साधन से ही साधक की अभिन्नता होती है। साधन-निष्ठ होने की स्वाधीनता सभी साधकों को जन्मजात प्राप्त है। समस्त दृश्य में सत्ता रूप से वे स्वयं ही मौजूद हैं। और जो कुछ हो

रहा है वह उन्हीं की लीला है। लीला देखते हुए उन्हीं का होकर रहना है। उनकी आत्मीयता ही अपना सर्वस्व है। वे सदैव हमारी ओर देख रहे हैं पर हम उनकी ओर नहीं देखते, इस असावधानी का सदा के लिए अन्त कर देना है। उनकी प्रियता उन्हीं से माँगो और उन्हें देकर उन्हें रिझाओ। साधक का निर्माण उन्होंने अपने लिए ही किया है। उनसे कह दो—"हे प्रेमास्पद, भोग और मोक्ष की भूख मिटा दो, प्रियता की भूख जगा दो, अपने निर्मित जीवन को अपने लिए उपयोगी बना लो।" वे व्यथित हृदय की पुकार शीघ्र सुनते है, यह निर्विवाद सत्य है। यद्यपि वे स्वतः सब कुछ जानते हैं, फिर भी व्यथित हृदय से पुकारती रहो। सफलता अनिवार्य है। जैसे रखें वैसे रहो, पर अनेक रूपों में उन्हीं को देखते हुए अनेक प्रकार से उन्हीं को लाड़ लड़ाओ। वे सदैव तुम्हारे और तुम उनकी हो। इतना ही नहीं, कण-कण में प्रीति और प्रियतम का नित्य विहार निरन्तर हो रहा है, पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने आत्मीयता को ही सर्वस्व स्वीकार किया है। सब कुछ देकर आत्मीयता ले लो। बस यही परम पुरुषार्थ है, जो एक-मात्र सत्संग से ही साध्य है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। वे धन्य हैं जिन्हें साधकों की सेवा का सुअवसर मिलता है। सच तो यह है कि अन्तर्यामी रूप से वे स्वयं ही साधक की सेवा अनेक रूपों में करते हैं। निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत प्यार। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

सद्भावना सहित

....

१८५

हैदराबाद
१७-१२-६३

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

मंगलमय विधान से प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वत: मिलती है। सभी परिस्थितियों से अतीत परम प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, सफलता अनिवार्य है। वर्तमान कर्तव्य कर्म को विधिवत् करने से करने का राग भी निवृत्त होता है और भविष्य भी उज्ज्वल होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्हें अपने लिए सत्संग से भिन्न कुछ नहीं करना है।

श्रम तथा प्रतिकूलताओं के भय से रहित होना अनिवार्य है और प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहना है। पोस्टमैन की भाँति मिली हुई शक्ति का व्यय होता रहे और प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला का दर्शन हो, तो फिर जो करना चाहिए वह होने लगता है। करना होने में, होना है में विलीन हो, साधक को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करता है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। रोम-रोम में उन्हीं की सील लगाकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। उनकी प्रियता ही तुम्हारा जीवन है। तुम सदैव उनकी, और वे तुम्हारे हैं। अनेक रूपों में अनेक प्रकार से उन्हीं को लाड़-लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा
....

१८६

बलिया

३-२-६४

देहातीत दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

शारीरिक स्वास्थ्य का भी यथाशक्ति ध्यान रखिये। शरीर की सेवा से भी शरीर का राग नाश होता है। अपने प्यारे की प्रत्येक वस्तु प्यारे के नाते ही प्रिय है। निर्मम होकर की हुई सेवा ही प्यारे की पूजा है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में प्रिय की मधुर-स्मृति ही अपना जीवन है। स्मृति होती रहे, लीला देखती रहो और पूजा करती रहो—यही मेरी सद् भावना है।

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से ही सभी परि-स्थितियों से अतीत दिव्य जीवन में प्रवेश होता है। परि-स्थितियों में जीवन-बुद्धि भूल है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त कुछ नहीं है। साधन-सामग्री का उपयोग साध्य की अगाध प्रियता जगाने में है। वे अपने है, सब कुछ उनका है—यही महामन्त्र है। परिस्थितियों का सदुपयोग कर उनकी दी हुई सामग्री से अनेक रूपों में उन्हीं की पूजा करो और उनकी आत्मीयता को पाकर प्रियता को जगाकर कृत-कृत्य हो जाओ।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार। निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित अभिवादन व बहुत-बहुत प्यार। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। तुम्हारे प्रेमास्पद तुम्हें अपनायें और अपना प्रेम प्रदान करें, इसी सद्‌भावना के सहित।

तुम्हारा

....

१८७

वृन्दावन

१३-८-६४

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्यारे की प्रीति और विश्व की सेवा होकर रहो। यही मेरी सद्‌भावना है।

शरणागत के जीवन में हर्ष तथा विषाद के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि उनकी दृष्टि में अपने प्यारे से भिन्न की सत्ता ही नहीं रहती। अनेक रूपों में उस एक ही को आदर तथा प्यार देते हुए उसी की प्रीति हो जाना है। प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है।

तुम्हारा निर्माण सर्व-समर्थ ने अपने ही में से किया है। अतः उन्हीं की पूजा करनी है। वे जैसे चाहें वैसे राखें, उनकी मौज। उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है।

जिन्होंने उनका होकर रहना स्वीकार किया, वे सभी उनके प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो गये। उनके होने में ही अपने

पुरुषार्थ की परावधि है। यह सामर्थ्य भी उन्हीं की दी हुई है। उन्होंने मानव का निर्माण अपने ही लिए किया है। अतः उनकी होकर उनके काम आओ। बस, यही इस जीवन की सार्थकता है।

तुम्हारा

....

१८८

वृन्दावन

१८-८-६४

देहातीत दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्यारे प्रभु की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। तुम्हारा निज-स्वरूप एकमात्र प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। यह निर्विवाद सत्य है। साधक अपनी ही भूल से अपने को प्रीति से विमुख कर लेता है। अपने द्वारा अपनी ओर देखते ही यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' का स्वरूप 'यह' से अतीत और 'वह' की प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। भला अपने में अपनी प्रियता न होगी ? अपने प्यारे की अनुपम लीला में जो अभिनय मिला है उसे उन्हीं की प्रियता जगाने के लिए परिस्थिति के अनुसार कर डालना है, और सब प्रकार से अभय रहना है। उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। ज्यों-ज्यों साधक उनकी महिमा

को अपनाता है त्यों-त्यों स्वतः अभय होता जाता है। उनकी महिमा की विस्मृति ने ही साधक को श्रद्धा-विश्वास से विमुख किया है, जो विनाश का मूल है।

निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार निवेदन करें।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१८९

वृन्दावन
१९-११-६४

प्रीतिस्वरूपा दिव्य-ज्योति,

अनेक रूपों में अपने ही प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

सद्गुरु-वाक्य है कि आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही मिलती हैं और आवश्यक कार्य स्वतः होते रहते हैं।

वास्तव में तो शरणागत को कुछ भी करना शेष नहीं रहता। शरण्य जो चाहते हैं कराते हैं। उनका कराया हुआ मंगलमय होता है। उनसे भिन्न की सत्ता किसी काल में है नहीं। तुम उन्हीं की प्रीति हो। प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नहीं। जैसे राखें वैसे रहो, जो करायें वही करो, अपने को देकर उनकी प्रियता को ले लो। फिर कुछ न देना है और न कुछ लेना है।

भक्त-मंडली के साथ रहने में प्रेमास्पद की नित-नव चर्चा होती ही रहती है। इस समय बड़ा ही सुन्दर संयोग बन गया है कि आप सभी लोग भक्तनिष्ठ साधक हैं। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। प्रिय-चर्चा से भिन्न और कोई चर्चा नहीं है।

अभिनय के रूप में सेवा करते हुए अनेक प्रकार से अपने ही प्यारे को लाड़ लड़ाओ। उन्हीं की होकर रहो, उनकी प्रियता ही जीवन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

१९०

बाराबंकी

२७-११-६४

साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा प्रभु की प्रीति होकर रहो।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, उसके सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है। सर्व संकल्पों को त्याग स्वाधीन होने में ही जीवन की उपयोगिता है, कारण कि स्वाधीन होने पर ही उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीन होने की स्वाधीनता मानव को जन्मजात् प्राप्त है—यह उसके रचियता की महिमा है।

मानव अपनी ही भूल से पराधीन हो अनुपयोगी हो जाता है। भूल-जनित वेदना पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को

भस्मीभूत कर देती है और फिर मानव सहज भाव से निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर उदारता तथा प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। अतः अपने सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जायँ, बस यही सफलता की कुंजी है। सभी महानुभावों को बहुत-बहुत प्यार निवेदन करें। जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

तुम्हारा

....

१८१

भागलपुर
२८-१२-१९६४

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति,

प्रत्येक दशा में प्रेमास्पद की प्रीति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

सेवा द्वारा विश्व के रूप में और प्रीति होकर प्रीतम के रूप में अपने ही प्यारे को लाड़ लड़ाना है। सेवा स्वतः प्रीति में परिणत हो जाती है, और प्रीति ही सगुण रूप धारण कर सेवा करती है।

किसी भी साधक को अपने लिए तो कुछ भी करना है नहीं, कारण कि निर्ममता, निष्कामता, असंगता विचार-सिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं; और शरणागति श्रद्धा-सिद्ध है। ज्यों-ज्यों साधक उनकी महिमा को स्वीकार करता जाता है त्यों-त्यों शरणागति सजीव होती जाती है। यह मंगलमय विधान है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

प्रियता से तुम्हारा जीवन परिपूर्ण हो जाय, यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

सद्भावना सहित

....

१९२

वृन्दावन
६-१-१९६५

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित साधन-निष्ठ' दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

अपनत्व से जागृत अगाध प्रियता ही तुम्हारा निज-स्वरूप है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, और न देहादि कोई भी वस्तु तुम्हारी अपनी है। एकमात्र वे ही तुम्हारे अपने हैं, जो तुम्हें जानते हैं और तुम उन्हें जानती हो। उनसे भिन्न की सत्ता स्वीकार करना ही आस्तिक साधक की भूल है।

तुम सदैव उन्हीं की गोद में हो। अतएव प्रीति होकर उन्हें रस प्रदान करती रहो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेमास्पद ने अपने ही में से तुम्हारा निर्माण किया है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

सद्भावना सहित

....

१९३

देहरादून
३०-४-१९६५

परम भागवत श्रीप्रिया एवं लाड़ली,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

सब प्रकार से प्यारे प्रभु का हो जाने पर सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। यह मंगलमय विधान है। श्रद्धा-पथ के साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि समर्थ की अहैतुकी कृपा उसे प्रीति से अभिन्न कर देती है। प्रीति की जागृति में एकमात्र आत्मीयता ही हेतु है, जो शरणागति स्वीकार करने से स्वतः प्राप्त होती है। जिसने अपने में अपना करके कुछ नहीं पाया, उसने अहैतुकी कृपा से सब कुछ पाया। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने सर्व-समर्थ की महिमा को स्वीकार किया है। उनकी महिमा स्वीकार करते ही साधक अभय हो जाता है, अर्थात् उसे सर्वत्र सर्वदा अपने प्यारे की अनुपम लीला का ही दर्शन होता है। इतना ही नहीं, उनकी महिमा को सोच-सोच अपने को न्योछावर कर उनके प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है।

वे धन्य हैं जिन्होंने सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना स्वीकार किया है। उनकी ओर से तो सब उनके हैं ही, पर अपनी ओर से उनके होने की बात स्वीकार करना ही श्रद्धा-पथ के साधक का परम पुरुषार्थ है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो।

प्रत्येक कर्तव्य कर्म द्वारा पूजा करती हुई उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो। उन्हीं की महिमा गाती रहो। इतना ही नहीं, सदैव उन्हीं की गोद में विश्राम करो उत्तरोत्तर उन्हीं की प्रीति बढ़ती रहे। इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

१९४

ऋषिकेश

६-५-१९६५

परम भागवत साधन-निष्ठ श्रीप्रिया तथा लाड़ली,

प्रत्येक दशा में प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

डरो मत। तुम सदैव समर्थ की गोद में हो। तुम्हें अपने लिए शरीर की आवश्यकता नहीं है। उन्हीं की वाटिका की सेवा करना है। सेवा के लिए आवश्यक सामर्थ्य अवश्य मिलती है। यह उन्हीं का मंगलमय विधान है। इसमें अविचल आस्था करो।

निवृत्ति में प्रीति का प्रवाह स्वतः जागृत होना चाहिए और प्रवृत्ति में पूजा होती रहे। निवृत्ति व प्रवृत्ति दोनों एक ही जीवन के दो पहलू हैं, जो शरणागत होने पर स्वतः होते रहते हैं।

सदैव अपने को उन्हीं में और उनको अपने में देखती रहो। उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। साधक उनकी महिमा को भूलने पर ही भयभीत होता है। अपने को, सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना और उनके प्रेम की भूख बढ़ाना है, जो एकमात्र अपनत्व से ही साध्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित
तुम्हारा
....

१९५

राजकोट
६-९-१९६५

परम भागवत प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

प्रीति होकर प्रियतम की लीला देखती रहो। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। विश्व विश्वनाथ का प्रकाश है और शरीर उसी का एक अंशमात्र है। शरीर चाहे जैसा क्यों न रहे, उसके बनने-बिगड़ने से तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं।

निर्मम, निष्काम तथा असंग होने पर शरीर के प्रति जो होता है वह भी तो उन्हीं की पूजा है। भला तुम ही बताओ, ऐसी कौनसी वस्तु है जो उनकी नहीं है। सब कुछ उनका ही है और वे तुम्हारे अपने हैं। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा

स्वाभाविक है। प्रेम तुम्हारा सहज स्वरूप है। तुम्हारे और उनके बीच प्रेम का आदान-प्रदान होता रहे, यही मेरी सद्-भावना है।

प्रेम की भूख इतनी बढ़ जाये कि मन, इन्द्रिय आदि सभी अपने विषय से विमुख होकर प्रेम से अभिन्न होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करें। उन्होंने तुम्हारा निर्माण अपने में से ही किया है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से देहाभिमान खाकर तुम्हें प्रेम प्रदान अवश्य करेंगे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। बस इसी सद्भावना के साथ,

तुम्हारा

....

१९६

बड़ौदा

१०-६-१९६५

परम भागवत प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

इस समय देश बड़े संकट में आगया है। भारतीयों को पवित्र भाव से पूरी शक्ति लगाकर अपनी रक्षा करते हुए अमानवता का अन्त करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है। पर यह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक भारतीय बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर

करते हुए सर्वहितकारी सद्भावना को अपनाये। विश्व की सेवा तथा विश्वनाथ का प्रेम मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। यद्यपि विश्वनाथ के प्रेम में विश्व-सेवा और विश्व-सेवा में विश्वनाथ का प्रेम ओत-प्रोत है, परन्तु प्रमादवश मानव इन दोनों में भेद कर बैठता है। उसका परिणाम अहितकर ही सिद्ध होता है। हिन्दुस्तान एक देश है, बेसमझी से लोग उसे दो देश मानते हैं। इतना ही नहीं, वास्तव में तो समस्त विश्व एक है, और विश्व तथा विश्वनाथ से मानव का अविभाज्य सम्बन्ध है। यदि मानव काल्पनिक भेद को अस्वीकार कर तथा वास्तविक एकता को स्वीकार कर बल विश्व की सेवा में लगाये और निज ज्ञान के द्वारा अचाह होकर श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक उसके प्रेम को अपनाये जो सभी का अपना है, तो सभी समस्याएँ हल हो जायें। किन्तु काल्पनिक भेद में आबद्ध मानव बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर कर अपना और दूसरों का अहित ही कर रहा है। धन और जन की क्षति सुनकर हृदय पीड़ित है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र में सोई हुई मानवता को जगा दें, यही मेरी सद्भावना है। तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

१९७

भरतपुर
१३-९-१९६५

परम भागवत साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो ।

विश्वासी साधक के जीवन में समर्थ की महिमा की स्मृति अखण्ड रूप से रहती है । उसी से उसकी सभी निर्बलताएँ स्वतः नाश हो जाती हैं ।

शारीरिक बल का आश्रय तोड़ने के लिए रोग आया है । उससे डरो मत, अपितु उसका सदुपयोग करो । रोग का सदुपयोग, देह की वास्तविकता का अनुभव कर उससे असंग हो जाना है । शरीर की असंगता में ही प्रेमास्पद की आत्मीयतापूर्वक अभिन्नता निहित है । इस दृष्टि से असंग होना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है ।

असंगता शरणागत साधक को स्वतः प्राप्त हो जाती है, कारण कि उसके जीवन में श्रद्धास्पद की महिमा से भिन्न कुछ नहीं रह जाता । तुम स्वयं दुःखहारी से कुछ मत कहो । क्या वे तुम्हें दुःखी देख स्वयं दुःखी नहीं होते होंगे ! उनसे कह दो—मेरे नाथ, यदि तुम्हें, दुःखी देखकर प्रसन्नता होती है तो दुःख सहने की सामर्थ्य दीजिये । नहीं तो, सुख के प्रलोभन से रहित कर मुझे अपनी प्रीति को प्रदान कीजिए । मैं भले ही तुम्हें भूल जाऊँ, पर तुम तो मेरे परम सुहृद् होने से कभी भूल ही नहीं सकते । तुम जानते हो कि मैं तुम्हारी हूँ । तुमने अपने ही में से मेरा निर्माण किया है । प्रेम के प्रसार के लिए अब प्रेममयी लीला करो, जिससे तुम्हारी महिमा मेरा जीवन होकर तुम्हारा दिया हुआ प्रेम तुम्हें भेंट करती रहूँ, जिससे तुम्हें रस मिले । तुम्हारा

रस ही मेरा जीवन है। हे जीवनधन ! अपनी ओर देखिए और अपने चरणों में अनन्य भक्ति देकर मुझे अपनाइये।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तुम्हारा

....

१६८

वृन्दावन

दिनांक १७-६-१९६५

कृपाश्रिता भक्तिमति साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम यथोचित।

जिन शरणागत साधकों ने अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया, वे सभी पार हो गये। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव-मात्र को मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर दी है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग सर्वतोमुखी विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने सुख-दुःख से अतीत रसरूप जीवन की आवश्यकता अनुभव की है। आवश्यकता अनुभव करना साधक का स्वधर्म है एवं परम पुरुषार्थ है। आवश्यकता की पूर्ति होती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है।

दुःख का प्रभाव तो विकास का मूल है, पर दुःख के भय से तो साधक को क्षति ही होती है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें साधकों की सेवा की सामर्थ्य प्रदान करें—इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

....

१९९

प्रयाग

दिनांक १४-१-१९६५

कृपापालित साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

अन्तर्ज्योति जगाने के लिए ही अस्वस्थता आई है। उसका आदरपूर्वक स्वागत करना है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु अनन्त की प्रीति हो। प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस देना ही तुम्हारा स्वधर्म है। तुम सदैव उन्हीं की गोद में हो और वे रोम-रोम में भरपूर हैं—इस वास्तविकता में अविचल आस्था कर उनकी महिमा को अपनाओ। सचमुच उनकी दया का कोई पारावार नहीं है। उनका प्यार ही हम सबका जीवन हो जाय, बस यही लालसा सतत उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्यार की भूख भी बड़ी रसीली भूख है। इस जीवन की सार्थकता एकमात्र उनकी अगाध प्रियता में ही है, कारण कि प्रियता अहंता को खाकर जीवन को उपयोगी कर देती है।

निश्चिन्त तथा निर्भय होकर लाड़ लड़ाती रहो, जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो, ठीक करो। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना के साथ

....

२००

धनबाद
२४-९-१९६५

परम भागवत साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो।

तुम्हारा जातीय तथा नित्य सम्बन्ध एकमात्र उन्हीं से है—वे जानते हैं, तुम मानती हो। उन्होंने अपने में से ही अपनी नित्य-प्रिया का प्रादुर्भाव किया है। प्रेम और प्रेमास्पद में किसी प्रकार की दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं है, अपितु प्रेमास्पद में प्रेम और प्रेम में प्रेमास्पद ओत-प्रोत हैं। इस दृष्टि से तुम उनकी और वे तुम्हारे हैं।

अपने में अपनत्व ही साधक का सर्वस्व है। निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता अपनत्व से ही अभिव्यक्त होती है। समस्त दृश्य और उसका प्रकाशक कोई और नहीं है, तुम्हारे ही प्रेमास्पद हैं। वे अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी पूजा, सेवा तथा प्रेम के योग्य बना लें, यह मेरी माँग वे ही पूरी करेंगे। ऐसा मेरा अविचल विश्वास है। कारण कि यह माँग वैधानिक माँग है। इसी माँग की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी ओर देख अपने ही में से साधक का निर्माण किया है। साधक सर्वदा उन्हें और उनकी लीला को देखता है।

हे लीलामय! अब तुम ऐसी लीला करो जिसको देख सभी साधकों का जीवन परम प्रेम से भर जाय। तुम अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास देकर साधकों को निर्भयता प्रदान करो। शरणागत का भय आपने सदैव हरा है। शरणागत-भय-हारी आपका विरद है। ऐसा शरणागत भक्तों ने अनुभव किया है।

आपकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। आपके अपनाने के अनेक ढंग हैं। जिनका कोई और है ही नहीं उनकी पुकार तो आप सदैव सुनते रहे हैं।

हे भयहारी ! अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता शीघ्र प्रदान करें। शरणागत की यही माँग है। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

२०१

कानपुर
२७-९-१९६५

परम भागवत स्नेहमयी साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो।

श्रद्धावान् साधक सर्व-समर्थ की अहैतुकी कृपा का आश्रय पाकर सदा के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं, कारण कि वे सर्वत्र सर्वदा अनेक रूपों में अपने प्रियतम को ही पाते हैं। प्रत्येक परिस्थिति में उन्ही की सेवा-पूजा करते हुए प्रेमास्पद की मधुर स्मृति ही होकर रहते है। अर्थात् प्रिय की मधुर स्मृति ही उनका जीवन है। स्मृति आत्मीयता से जागृत होती है, जिसे साधक आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक स्वतः स्वीकार करता है। जब अनेक स्वीकृतियाँ एक स्वीकृति में विलीन हो जाती है तब अखण्ड स्मृति स्वतः जागृत होती है। इस दृष्टि से आत्मीयता ही प्रियता की भूमि है। अनेक सन्तों, भक्तों तथा सद्ग्रन्थों से

यह सिद्ध है कि साधक का विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध है। तो फिर भय, चिन्ता आदि के लिए साधक के जीवन में स्थान हो कहाँ है ? दुःख का प्रभाव दुःखी को दुःखहारी प्रभु से अभिन्न करने में समर्थ है। सुख का प्रलोभन मिटाने के लिए दुःखहारी स्वयं दुःख के वेष में प्रगट होते हैं और फिर सुख के प्रलोभन को खाकर दुःखी को अपने से अभिन्न कर प्रियता प्रदान करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। उनसे आस्था, श्रद्धा, विश्वास की प्रार्थना करना साधक का परम पुरुषार्थ है। उनकी आस्था पाकर भयभीत, अभय हो जाते हैं और अनाथपन सदा के लिए मिट जाता है। अर्थात् साधक सनाथ हो जाता है और फिर उसे कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। वे तो जानते ही हैं कि साधक उनका अपना है। उन्हें साधक अत्यन्त प्रिय है। साधक में भी उनकी प्रियता की माँग रहनी चाहिये। बस बेड़ा पार है। ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

२०२

कानपुर

दिनाँक १-१०-१९६५

परम भागवत दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो।

प्राकृतिक विधान के अनुसार सुख और दुःख साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधन-सामग्री के सदुपयोग से प्रत्येक साधक को साध्य की उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का उत्साह, उमंग तथा धीरजपूर्वक सदुपयोग करना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा जब साध्य में

साधक की अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास हो। यद्यपि साधक की साध्य से ही जातीय एकता है, परन्तु साधक भूल से अपने नित्य सम्बन्ध में अविचल आस्था नहीं करता। स्वाभाविक माँग तो साधक में अविनाशी सरस जीवन की ही है। माँग उसी की होती है जो मौजूद है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब साधक किसी साधक के माध्यम से साध्य की महिमा को स्वीकार करे। स्वीकृत महिमा का परस्पर साधकों के साथ वर्णन करे, जैसे आशुतोष भगवान शंकर तथा उमा करते थे। महिमा के श्रवण, कथन, चिन्तन से महिमा में श्रद्धा, विश्वास हो जाता है और फिर भय, चिन्ता, शोक आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता, अपितु साध्य की प्रियता जाग्रत होती है जो वास्तविक जीवन है।

सहजभाव से प्रेमास्पद की महिमा गाती रहो और उत्तरोत्तर हृदय में उत्साह बढ़ाती रहो। प्रेम देने में पराधीनता नहीं है। प्रेम से ही प्रेमास्पद को रस मिलता है। प्रीति की जागृति में एकमात्र अपनत्व ही मूल हेतु है। जब मिले हुए और देखे हुए की वास्तविकता स्पष्ट होती है तब केवल जो मौजूद हैं उन्हीं की अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास रह जाता है, जो साधक का सर्वस्व है। मौजूद पर ही सतत दृष्टि लग जाय, कोई और नजर न आये। वास्तव में तो सत्ता रूप से सदैव सर्वत्र अपने प्यारे ही हैं, और कोई है ही नहीं; तो फिर भय, चिन्ता आदि के लिए स्थान ही कहाँ है? उनकी महिमा की विस्मृति ही भय, चिन्ता आदि को जन्म देती है। निर्बल साधक तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सर्व-समर्थ में आत्मीयता स्वीकार कर लेता है, और फिर निश्चिन्त, निर्भय होकर निरन्तर गुण-गान करते हुए

जीवन-यात्रा को सरस बना लेता है। साध्य की महिमा का वर्णन करने से उत्तरोत्तर साध्य की प्रियता बढ़ती ही रहती है, ऐसा श्रद्धावान् साधकों का अनुभव तथा विश्वास है। साधक की दृष्टि वर्तमान और विद्यमान में ही रहती है। विद्यमान से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं है। विद्यमान की विस्मृति ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है। कितना सुन्दर श्री मीरां जी का वचन है—

प्रियतम पतिया तो लिखूँ, जो तुम होव विदेश,
तन में, मन में, नैन में, तिनको कहा संदेश।

—यह वास्तविकता सभी साधकों के लिए सर्वदा सम्भव है। इसमें विकल्प करना अपनी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ....। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित
....

२०३

कानपुर
दिनांक ३-१०-१९६५

परम भागवत साधन-निष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा निश्चिन्त तथा अभय रहो।

यह जानकर कि सर्वहितकारी पावन शरीर कफ, खाँसी से पीड़ित है, हृदय करुणित हो उठा। यह रोग तप कराने आया है, और शरीर से असंगता एवं प्रभु से आत्मीयता की प्रेरणा देकर सदा के लिए शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रियता का अधिकारी

बना रहा है, ऐसा मेरा विश्वास है। चित्त में प्रसन्नता, मन में निर्विकल्पता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जायगी त्यों-त्यों स्वतः आरोग्यता आती जायगी, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। सुख के प्रलोभन का नाश होने पर दुःख का भय स्वतः मिट जाता है। रोगावस्था में साधक को तप को अपनाना अनिवार्य है। भोजन औषधि के समान हो जाय, केवल सेवा में ही प्राप्त बल का उपयोग किया जाय। सुख-सम्पादन के लिए कुछ भी नहीं करना है, अपितु सुख से विमुख होकर शान्ति का सम्पादन करना है। शान्ति के समान और कोई तप नहीं है। समस्त शक्तियों का विकास शान्ति में निहित है। यह रही मानव के पुरुषार्थ की बात।

जो साधक अपने को असमर्थ अनुभव करता है, उसे तो एकमात्र सर्व-समर्थ की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से उन्हीं का हो जाना है। वे अपने हैं, उनकी महिमा का पारावार नहीं है। सदैव सर्वत्र उन्हीं की लीला देखो। उनकी अनन्य शरणागति ही एकमात्र अपना सम्बल है, जिसे तुमने बड़ी ही ईमानदारी से अपना लिया है। वे सदैव तुम्हें देख रहे हैं। उनके समान और कोई परम सुहृद् नहीं है। उन्हीं से उनकी प्रियता माँगती रहो। सर्वत्र सभी में उन्हीं को देखो, कोई और है नहीं। यहाँ तक कि तुम्हें अपने में भी अपना करके कुछ भी नहीं दिखाई देगा। 'मैं' 'है' का भेद शेष न रहेगा। जब सभी उन्हीं से सत्ता पाते हैं और उन्हीं से प्रकाशित हो रहे हैं तो फिर किसी अन्य का अस्तित्व ही कहाँ है ? भोग की रुचि से संसार की प्रतीति होती है, किन्तु जिसकी प्रतीति होती है उसकी प्राप्ति नहीं होती—यह उनके दिए हुए ज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान उन्होंने आप्तकाम होने के लिए दिया है और बल उदार

बनाने के लिए। आप्तकाम होने पर साधक उदारता तथा प्रेम का अधिकारी हो जाता है। जिसे कभी भी कुछ नहीं चाहिये वही आप्तकाम है। आप्तकाम होते ही भोग, मोह और आसक्ति का नाश और योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है। रोग तुम्हें स्वाधीनता देकर ही पीछा छोड़ेगा, कारण कि वह परम सुहृद् की ओर से आया है। उसका आदरपूर्वक स्वागत करो। उससे डरो मत।

जिसका अपना कोई संकल्प नहीं रहता, उसके सभी आवश्यक संकल्प पूरे होते रहते हैं—यह प्रभु का मंगलमय विधान है। उदारता, समता, प्रियता से भिन्न कुछ न रह जाय—यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

२०४

मुकामा

दिनांक ८-११-१९६५

परम भागवत, साधन-निष्ठ, अहैतुकी कृपा से पालित,

सर्वदा अभय रहो।

पराधीनता-जनित सुख का अन्त करने के लिए और स्वाधीनता तथा अपनत्व से जागृत नित-नव रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रतिकूलता मंगलमय विधान से आती है। विचारशील साधक प्रतिकूलता का आदर-पूर्वक स्वागत करते हुए तपोमय जीवन अपनाते हैं। प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति संयम का मूर्तिमान

रूप धारण कर लेती है और फिर प्रतिकूलता सदा के लिए विदा हो जाती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति यज्ञरूप होकर प्रेमास्पद की प्रीति जगाने में सहयोगी सिद्ध होती है।

अपने में अपने परम सुहृद् प्रेमास्पद मौजूद हैं। उनकी आत्मीयता ही अपना सर्वस्व है। उनकी महिमा का गुणगान ही अपना स्वधर्म है।

स्वधर्मरत साधक सफलता के साम्राज्य में ही वास करते हैं, यह मंगलमय विधान है। विधान में अविचल आस्था रहनी चाहिये। सभी प्रवृत्तियाँ उन्हीं की पूजा हैं, कारण कि उनकी दी हुई परिस्थिति का उन्हीं की प्रियता के लिए यथाशक्ति सदुपयोग करना है। जब दृश्य से संयोग-जनित सुख का प्रलोभन शेष नहीं रहता तब नित्ययोग तथा सहज स्नेह स्वतः जागृत होता है, और फिर साधक साध्य की अगाध प्रियता पाकर कृतकृत्य हो जाता है। आवश्यक सामर्थ्य तथा साधन-सामग्री साध्य की अहैतुकी कृपा से साधक को स्वतः प्राप्त होती है। प्राप्त सामग्री का सदुपयोग ही वास्तविक पूजा है। असमर्थता की अनुभूति होने पर साध्य की महिमा में अविचल आस्था आस्तिक साधक को होती है। प्राप्त सामर्थ्य के द्वारा साध्य की पूजा और असमर्थता अनुभव होने पर प्रार्थना स्वतः होती रहे। बस; यही सफलता की कुंजी है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

२०५

पटना

६-१-१९६६

परम भागवत साधन-निष्ठ श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रत्येक दशा में अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यही मेरी सद्भावना है।

शरणागति सफलता की कुञ्जी है और साधक के पुरुषार्थ की परावधि है। शरणागत के जीवन में भय, चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरणागत शरण्य को अत्यन्त प्रिय है, कारण कि शरणागत का कोई और नहीं है। इतना ही नहीं, शरणागत अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता। शरण की महिमा में उसकी अविचल आस्था सदैव रहती है। आस्था आस्थावान् को उससे अभिन्न कर देती है जिसकी उसने आस्था स्वीकार की है। आस्था से भिन्न आस्थावान् का कोई अस्तित्व नहीं है। श्रद्धा और विश्वास आस्था के ही रूप हैं। श्रद्धास्पद की महिमा ही तो श्रद्धावान् का जीवन है। श्रद्धास्पद सदैव अपने शरणागत को देख रहे हैं। शरणागत कभी भी शरण्य की आँख से ओझल नहीं होता, और न शरणागत की दृष्टि में ही कोई और रह जाता है। इसी कारण शरणागत में बड़े ही सहज भाव से निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। और फिर उसका जीवन निर्विकारता, चिर-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रियता से परिपूर्ण हो जाता है।

शरण्य के नाते सभी अपने हैं, पर वास्तव में तो शरण्य ही अपने हैं। वे अपने हैं, अपने ही में हैं और उनकी प्रियता से भिन्न अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर यह रहस्य उनकी अहैतुकी कृपा से ही स्पष्ट होता है। जिन साधकों ने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया वे सभी पार हो गये; अर्थात् उस जीवन को पा गये जिसको पाकर कुछ और पाना शेष नहीं रहता।

प्रेमास्पद अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर शरणागत को अपनाते हैं। शरणागति उन्हीं की देन है। उन्हीं ने जिज्ञासा-पूर्ति के लिए साधक में विचार का प्रादुर्भाव किया है और वे ही अपनी प्रियता प्रदान करने के लिए शरणागति के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। सत्ता रूप से तो कभी कोई और है ही नहीं। प्रीति और प्रियतम उन्हीं का स्वरूप है। प्रीति और प्रियतम के नित्य विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र शरणागति से ही साध्य है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था से ही शरणागति सजीव होती है। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

सद्भावना सहित

....

२०६

वृन्दावन
१७-११-१९६७

प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति, दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

प्रभु-विश्वासी साधक के जीवन में अभाव का अभाव सदा के लिए स्वतः हो ही जाता है। ऐसा अनुभव-सिद्ध सत्य है। इस सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। शरीर के रहने-न रहने से विश्वासी साधक के जीवन में कोई लाभ-हानि की बात ही नहीं है। प्रभु-विश्वास कल्पतरु है; प्रभु-प्रेम की प्राप्ति का अचूक उपाय है। जिसने प्रभु-विश्वास पा लिया, सब कुछ पा लिया। प्रभु-विश्वास को अपनाते ही अन्य विश्वास स्वतः नाश हो जाते हैं। प्रभु-विश्वासी को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, कारण प्रभु-विश्वास अन्य सम्बन्ध, अन्य चिन्तन का अन्त कर देता है। इतना ही नहीं, विश्वासी साधक के लिए प्रभु-विश्वास ही गुरु-तत्व है। यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने गुरु-वाक्य के आधार पर प्रभु-विश्वास अपनाया है।

करने और होने के रहस्य को अनुभव करो। करना है केवल प्रभु-विश्वास और हो रही है अनन्त की अनुपम लीला। लीला देखो, पर लीलामय की महिमा को अपनाती रहो। जिन्होंने महामहिम की महिमा को अपनाया, वे सदा के लिए अभय हो गये, विश्राम पा गये और प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस देने में तत्पर हो गये। यह उन्हीं की महिमा है। उनसे

आत्मीय सम्बन्ध अपना लेने पर किसी और की आस्था ही नहीं रह जाती। प्रेमास्पद से भिन्न की आस्था ही अभाव को जन्म देती है। अतः यह स्वीकार करो कि सर्वरूप में वे ही हैं; सभी अवस्थाओं में वे ही हैं; सभी परिस्थितियों में वे ही हैं; वस्तु, व्यक्ति, देश-काल में वे ही हैं। तुम हो उनकी अगाध प्रियता। प्रियता से ही उन्हें रस मिलता है। सद्गुरु-वाक्य के आधार पर मिली हुई आत्मीयता से ही प्रियता उदय होती है। तुम्हारे प्रेमास्पद सदैव तुम्हीं में हैं, तुम्हें देख रहे हैं। वे कभी भी तुम्हें अपनी आँख से ओझल नहीं करते। तुम भी अपनी दृष्टि में किसी और को स्वीकार न करो। बस, और कुछ करना शेष नहीं है। सर्वदा अभय रहो, निश्चिन्त रहो, शान्त रहो, प्रसन्न रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

सद्भावना सहित

... .

२०७

बहराइच
दिनांक ३०-३-१९६८

प्रीतिस्वरूपा, दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

प्रभु के नाते प्रभु-प्रेम के लिए प्रभु के दिये हुए बल का, प्रभु की अहैतुकी कृपा से उपयोग होता रहे। प्रभु सदैव हैं, सर्वत्र हैं, तुम्हीं में हैं। उनको पाकर और कुछ पाना नहीं है।

उनके हो जाने पर और कुछ करना नहीं है। उनकी अखण्ड स्मृति में ही जीवन है, और कहीं जीवन नहीं है। प्रभु अपना प्रेम प्रदान करते रहें। इसी सद्‌भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्‌भावना सहित

....

२०८

वृन्दावन
१०-७-१९६८

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को प्रेम का दान करती रहो। यही मेरी सद्‌भावना है।

मानव का निर्माण प्रभु ने अपने में से अपने लिए किया है। सृष्टि का निर्माण भले ही मानव के लिए हो, किन्तु मानव का निर्माण तो उन्होंने अपने ही लिए किया है। कारण कि मानव ही को प्रभु ने यह सामर्थ्य दी है कि वह निज ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होकर मिले हुए और देखे हुए से निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर जब चाहे जीवन-मुक्त हो जाय और बुराई का उत्तर भलाई से देकर जगत् के काम आ जाय और स्वयं भलाई के अभिमान तथा फल की कामना से रहित होकर बुराई-भलाई

से अतीत प्रभु के दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाय और मुक्ति से भी मुक्त होकर विश्वासपूर्वक शरणागति को अपनाकर प्रभु को प्रभु का दिया हुआ प्रेम देकर प्रभु के काम आ जाय। क्या कहूँ ? मानव सेवा संघ भी प्रभु का ही है। इस कारण संघ की सेवा प्रभु की निज सेवा है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

अकिंचन

....

२०६

वृन्दावन

दिनांक १६-७-१६६८

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमती,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

......................। शरणागत साधक को तो प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का ही दर्शन करना है और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है तथा उन्हीं के नाते सभी को आदर देते हुए सभी के प्रति सद्भाव रखना है। प्रेमास्पद के प्रेम की माँग सबल तथा स्थायी होती रहे। उसकी पूर्ति तो प्रेमास्पद की कृपा पर ही निर्भर है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

अकिंचन

....

२१०

वृन्दावन
दिनांक २६-७-१९६८

प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

जिन्होंने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर शरणागति स्वीकार की वे सभी उनके प्रेम-धन को पा गये। शरणागत के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि शरणागत का जीवन अनन्त की महिमा से भरपूर हो जाता है।

वे तुम्हारे काम आते हैं, इसे तो तुम जानती हो, और मानती भी हो, पर तुम अनुभव करती हो कि तुम उनके काम नहीं आतीं। तुम उनसे बराबरी न करो। वे स्वयं तुम्हें अपने काम के योग्य बनायेंगे। उनकी महिमा को अपनाओ और अभय हो जाओ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२११

वृन्दावन
दिनांक ३१-७-१९६८

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तमति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो ।

साधकों की सेवार्थ संकेत भाषा में कुछ चर्चा लिखा रहा हूँ। आप उसे भलीभाँति समझ लेंगी और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करेंगी ।

साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है, ऐसा मेरा विश्वास है। परन्तु सेवा करने वाले साधक को इस बात का ध्यान रहे कि वह सेवा करने से, अन्य साधकों की अपेक्षा अपने को विशेष न मान ले और साध्य के स्थान पर स्वयं अपने व्यक्तित्व की पूजा न कराने लगे। यही मानव सेवा संघ की नीति है ।

मानव सेवा संघ मानव मात्र को स्वाधीनतापूर्वक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है। साधक और साध्य के बीच किसी और को सहायक नहीं मानता है। साध्य की आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीय सम्बन्ध साधक को साध्य से अभिन्न कराता है, अथवा यों कहो कि सत्संग के द्वारा प्रत्येक साधक साधननिष्ठ हो सकता है और सत्संग साधक का स्वधर्म है ।

साधक को स्वधर्म की प्रेरणा देना और साधक एवं साध्य का आत्मीय सम्बन्ध दृढ़ करना प्रभु-विश्वासी साधक-समाज की वास्तविक सेवा है। यह आपको विदित हो है कि आज का

साधक कुछ-न-कुछ करना चाहता है। करने की बात शरीर के सहयोग के बिना हो नहीं सकती। इस कारण स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—तीनों शरीरों से प्रभु-विश्वासी साधक को साध्य की पूजा करना है और स्व के द्वारा स्तुति, उपासना और प्रार्थना करना है।

स्थूल शरीर के सहयोग से वर्तमान कर्तव्य कर्म के रूप में प्रभु की पूजा की जाय और सूक्ष्म शरीर के द्वारा प्रिय के नाम का आश्रय लेकर चिन्तन के रूप में पूजा की जाय। मन और प्राण दोनों के द्वारा प्रिय का प्रिय नाम लेना चाहिए। प्राण समस्त क्रियाशक्ति का केन्द्र है और मन इच्छाओं का प्रतीक है। प्राण और अपान, अर्थात् भीतर जाने वाला श्वास और बाहर आने वाला श्वास—भीतर जाने वाले श्वास को प्राण और बाहर आने वाले श्वास को अपान कहते हैं।

प्राण अपने प्राणाधार में सहज भाव से विलीन होता है, भीतर और बाहर। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि स्थिति के बिना गति नहीं होती। प्राण और मन द्वारा प्रिय के नाम का उच्चारण करना है। प्रिय का आधा नाम जाते और आधा नाम आते हुए लेना है। मन की वाणी से बोलना, मन के कानों से सुनना और मन की आँखों से देखना है। परन्तु जहाँ प्राण अपने आप अपने प्राणेश्वर में लय हो वहीं नाम के द्वारा मन की क्रिया का भी लय हो। लय होते समय समर्पण भाव रखना है। क्रिया भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन हो जाता है। मानसिक क्रिया समाप्त होते ही स्थिति के रूप में कारण शरीर के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा होती है। यह रहस्य कुछ काल पूजा करने से स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा तो बातचीत द्वारा ही हो सकती थी, परन्तु वह तो, जब कभी प्रभु की अहेतुकी कृपा से अवसर आवेगा, तभी हो सकेगी।

आज प्रातः की बैठक में उपर्युक्त चर्चा सविस्तार की गई थी। प्रेरणा हुई कि उसका अंश आपकी सेवा में भेज दिया जाय। जब तीनों शरीरों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा होने लगती है तब करने का प्रश्न हल हो जाता है।

अब रही स्तुति, उपासना और प्रार्थना की बात। स्तुति तभी हो सकती है जब सर्व काल में, सर्व देश में, सर्वदा प्रेमास्पद के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय और फिर उनकी महिमा को स्वीकार किया जाय। प्रभु की महिमा का कोई वारापार नही है। संकेत में यही कहा जा सकता है कि वे सभी को अपना लेते हैं और उनपर कोई विजयी नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, प्रभु अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रत्येक साधक को अपनी महिमा से ही योग, बोध, प्रेम प्रदान करते हैं। उनकी उदारता की बात कहाँ तक कही जाय, स्वयं प्रेमियों के प्रेमी हो जाते हैं। उनकी महिमा के सम्बन्ध में जितना भी कहा जाय, कम है। और की तो बात क्या है, वेद भगवान भी उनकी महिमा का वणन नहीं कर सके।

अब आप भली प्रकार समझ जावेंगी कि उनके महत्व और अस्तित्व को स्वीकार करना स्तुति है। यह शरीर-धर्म नहीं है। स्तुति सजीव होते ही उपासना अर्थात् प्रेमास्पद से जातीय, नित्य और आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना सिद्ध होता है। उपासना सिद्ध होते ही अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता स्वतः

होती है, अर्थात् प्रेमास्पद के प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जो वास्तव में प्रार्थना है।

अपने द्वारा स्तुति, उपासना और प्रार्थना की जाय। शरीरों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा की जाय। ऐसा करते ही प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की लीला का ही दर्शन होता है और फिर समस्त जीवन साधन हो जाता है। लीलामय प्रेमीजनों को अपना परिचय देने के लिए लीला करते हैं। उनकी लीला में ऐश्वर्य, माधुर्य और सौंदर्य का ही संकेत होता है। लीलाओं का बाह्य रूप कुछ भी हो, परन्तु अर्थ इतना है कि वे समर्थ हैं, सभी को अपनाते हैं और अपने सौन्दर्य से सभी को आकर्षित कर प्रेम-विभोर कर देते हैं।

लीलामय भगवान् तुम्हें अपनी लीला का दर्शन कराते रहें और अपने प्रेम से तुम्हारे जीवन को भरते रहें, जिससे तुम उनके प्रेमियों की सेवा करती रहो। इसी सद्भावना के साथ पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

……………………

२१२

वृन्दावन

दिनांक ५-८-१९६८

अहैतुकी कृपा से पालित परम भागवत दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो ।

मानव सेवा संघ जो साधकों का संघ है उसकी सेवार्थ जब तक शरीर की आवश्यकता रहेगी, अवश्य रहेगा । प्रभु अपना काम कराने के लिए आवश्यक सामर्थ्य देते ही हैं । यह उनका सहज स्वभाव है । शरीर के न रहने पर भी सेवा का भाव ज्यों-का-त्यों प्रभु के संकल्प में विलीन होकर कार्य करता ही रहता है । पर यह रहस्य कोई विरले ही साधक जान पाते हैं । साधन-तत्व साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है । इतना ही नहीं, वह साध्य के समान अविनाशी भी है । ज्यों-ज्यों साधक में साध्य की प्रियता की माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों साधक का अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्व से अभिन्न होता जाता है । इस दृष्टि से साध्य की प्रियता की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए । सफलता अवश्यम्भावी है ।

साधक के जीवन में निराशा तथा असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है । प्रत्येक साधक साधननिष्ठ हो जाय, यह अनन्त का अपना संकल्प है । इस कारण जो साधक निराश नहीं होता, अपितु साध्य की उपलब्धि के लिए नित-नव उत्साह को अपनाता है और धीरजपूर्वक प्रतिकूलताओं को सहन

करता है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-निष्ठ हो जाता है। प्रभु के संकल्प में अपने सभी संकल्प विलीन हो जायें, बस यही लक्ष्य की प्राप्ति का अचूक उपाय है। अपने में अपना करके कुछ है ही नहीं, इस वास्तविकता को अपनाकर अपने को सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण कर सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। निश्चिन्तता में अपूर्व सामर्थ्य विद्यमान है। निर्भयता आते ही प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से शरणागत साधक को सदैव निश्चिन्त तथा निर्भय रहना अनिवार्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। वे सदैव तुम्हारे हैं। इतना ही नहीं, तुम उन्हीं में हो और वे तुम्ही में हैं। अन्तर केवल इतना है कि तुम प्रीति हो और वे प्रियतम। प्रीति और प्रियतम का नित्य विहार ही वास्तविक जीवन है।

पूजा करो शरीर से, स्व से कर सत्संग।
तब तुम पावोगी सदा, निज प्रियतम को संग॥

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

वृन्दावन
दिनांक १७-८-१९६८

२१३

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमती श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई प्रत्येक दशा में आनन्द रहो।

प्रत्येक कार्य समस्त विश्व के हित के भाव से किया जाय, तो फिर कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती; कारण कि प्यारे प्रभु की योगमाया उसके अनुकूल हो जाती है। अपने सुख तथा अपनी हितकामना से प्रेरित होकर कार्य करना भूल ही है। सुख में तो बन्धन है ही, पर अपना हित सभी के हित से अलग मानना भी प्रमाद ही है। सभी के हित में ही अपना हित है, इस वास्तविकता को अपनाकर ही प्रत्येक कर्तव्य कर्म तथा जप, तप आदि करना चाहिए। अपने हित के लिए किया हुआ ध्यान भी बन्धन ही है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने माया और मायाधीश से अविभाज्य सम्बन्ध स्वीकार किया है।

प्रेमास्पद पूर्ण होने से अचाह हैं, अर्थात् वे सब प्रकार से पूर्ण हैं, उन्हें कुछ नहीं चाहिए और मानव उदार तथा प्रेमी होने के नाते चाह-रहित है। इस दृष्टि से मानव की अनन्त से ही वास्तविक एकता है। अपने में अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं। किन्तु आत्मीयता से जागृत प्रियता के बिना इस वास्तविकता का बोध नहीं होता।

..................आज स्नेह-निर्मित यशोदा जी और आनन्दघन को भी आनन्दित करने वाले गोलोकवासी श्यामसुन्दर के नित्य परिकर अनन्त को अपनी गोद में पाकर अत्यन्त प्रसन्न हैं और याचकों को सब कुछ लुटा रहे हैं । हम लोग भी अपने मैया बाबा से प्रेमास्पद के प्रेम की भिक्षा माँगें। मिलेगी अवश्य । इस शब्द का अर्थ बहुवचन है। कोई भी शरणागत प्रेमीजनों के लिए प्रेम की भिक्षा माँग सकता है । और प्रेमास्पद के प्रेमी उदारतापूर्वक दे सकते हैं। ऐसा मेरा विश्वास है । वास्तव में तो जिस किसी को जो कुछ मिला है वह अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर ही दिया है । किन्तु जो उनके प्रेमी हैं वे भी प्रेम-धन देते हैं । यद्यपि सभी में सब कुछ प्रेमास्पद का ही है, परन्तु प्रेमीजनों की मांग को पूरा करने में प्रेमास्पद को हर्ष ही होता है । यह उनका सहज स्वभाव है। ज्यों-ज्यों शरणागत शरण्य की महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों उसे उनकी अहैतुकी कृपा का स्वतः अनुभव होता है । उनसे भिन्न का अस्तित्व एवं महत्व न रह जाय और उनसे अविचल अपनत्व हो जाय, यही शरणागत की माँग है। माँग का अनुभव करना साधक का स्वधर्म है, और उसको पूरा करना साध्य का सहज स्वभाव है। तो फिर साधक के जीवन में निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है । इस दृष्टि से साधक के जीवन में नित-नव उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए। उत्साह सबल तथा स्थायी होने पर समस्त जीवन एकनिष्ठ हो जाता है। एकनिष्ठता में ही सफलता निहित है।.... ....।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

अकिंचन

....

२१४

वृन्दावन

दिनांक २९-८-१९६८

अहैतुकी कृपा से पालित परम भागवत दिव्य-ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो—इसी सद्भावना के साथ सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

भयहारी हरि ने रोग का भय मिटा दिया, तो रोग को भी मिटा देंगे। शरीर विश्व की सेवा-सामग्री है, उससे अपने को कुछ भी नहीं लेना है। यह वास्तविकता जीवन में आ जाने से शरीर को बनाये रखने का भी संकल्प नहीं रहता। प्रभु के संकल्प से यंत्रवत् शरीर के द्वारा आवश्यक कार्य मंगलमय विधान से होता रहता है। वास्तविक सेवा तभी होती है जब प्रभु के संकल्प में अपना संकल्प विलीन हो जाय। जिसे अपने लिए कुछ भी करना नहीं है उसके सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जाते हैं। साधक को संसार से कुछ भी नहीं लेना है, अपितु संसार के लिए उदार होना है। अब रही अपने और प्रेमास्पद के बीच की बात। प्रेमास्पद ने, जो आवश्यक है, बिना ही मांगे दे दिया है, अतः उनसे भी कुछ मांगने की बात नहीं है। इतना ही नहीं, प्रेमास्पद के प्रेम में जो जीवन है वही अनुपम अलौकिक अद्वितीय जीवन है। इस कारण साधक को जगत् के प्रति उदार, प्रभु के प्रति प्रेमी और अपने प्रति अचाह होना है। यही मानव-दर्शन पर आधारित मानव सेवा संघ की दीक्षा है। अर्थात् मानव-मात्र को यह महाव्रत लेना ही होगा,

तभी सोई हुई मानवता जगेगी । और मानव सेवा, त्याग, प्रेम से भरपूर हो जायेगा। सेवा, त्याग, प्रेम में ही विश्वशान्ति, जीवन-मुक्ति एवं अनन्य भक्ति निहित है, जिसकी प्राप्ति तभी होती है जब मानव उपर्युक्त व्रत को स्वीकार करता है । व्रती जीवन ही मानव-जीवन है । व्रत को पूरा करने के लिए तप, प्रायश्चित और प्रार्थना को अपनाना आवश्यक है । मानव के रचयिता ने मानव को इसी उद्देश्य के लिए निर्माण किया है कि वह जगत् के प्रति उदार, अपने प्रति अचाह और प्रभु के लिए प्रेमी हो जाय। यह मानव की माँग और प्रभु का संकल्प है। इसकी पूर्ति अनिवार्य है । इस दृष्टि से मांग की पूर्ति के लिए साधक के जीवन में नित-नव उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहना चाहिए। उत्साहहीनता के समान और कोई प्रमाद नहीं है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२१५

नई दिल्ली
दिनांक १९-२-१९६९

प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई उनके कार्य में दत्त रहो।

जिन साधकों ने प्यारे प्रभु का कार्य किया वे सभी उनके प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो गये, पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने अपने प्यारे के प्रत्येक कार्य को समान महत्व दिया है और प्रभु-विश्वास को अपनाकर अभय हो गये हैं। प्रभु-विश्वास में एकमात्र प्रभु ही की अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है। प्रभु-प्राप्ति में प्रभु-विश्वास ही अचूक उपाय है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है। प्रभु का नाम, प्रभु का काम, प्रभु का ध्यान समान अर्थ रखते हैं। जिस साधक को जिसमें अधिक रुचि हो उसे अपनाये और सब प्रकार से उन्हीं का हो जाये, बस यही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है। प्रभु-विश्वास में बड़ी ही अलौकिक और अपूर्व सामर्थ्य है। क्या कहा जाय, भाषा असमर्थ है प्रभु-विश्वास की महिमा को बताने में। प्रभु-विश्वासी की दृष्टि में सृष्टि ही नहीं रहती, कारण कि उसमें किसी और का अस्तित्व ही नहीं रहता। उन्हीं का अस्तित्व, उन्हीं का महत्व और उन्हीं में अपनत्व रह जाता है जो योग, बोध, प्रेम का प्रतीक है। शान्ति, मुक्ति तो प्रभु-विश्वासी के पीछे-पीछे दौड़ती है और उसे पकड़ नहीं पाती और भक्ति उसका जीवन हो जाता है। भक्ति से ही सर्व-समर्थ

प्रभु को रस मिलता है। प्रभु-विश्वासी की भक्ति से भिन्न कोई और माँग नहीं रहती, तो फिर किसी प्रकार की अपने प्रेमास्पद से दूरी, भेद, भिन्नता कैसे रह सकती है, अर्थात् लेशमात्र भी नहीं रहती। इस दृष्टि से प्रभु-विश्वास में ही जीवन है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२१६

गीता भवन
दिनांक ६-५-६६

प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो।

यह जीवन उनके काम आ जाय, अर्थात् उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता से भरपूर हो जाय—यही मानव की माँग है। उदारता के बिना विश्व-रूप में उनकी सेवा हो नहीं सकती। प्रियता की अभिव्यक्ति के लिये स्वाधीनता अनिवार्य है, कारण कि पराधीनता में आबद्ध प्राणी प्रेमी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से साधक के जीवन में उदारता और स्वाधीनता की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिये। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से प्रियता उदित तो होती है, किन्तु स्वाधीनता के बिना प्रीति का प्रवाह उत्तरोत्तर बढ़ता नहीं है। इस कारण

स्वाधीन होना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परम स्वतन्त्र की शरणागति स्वीकार करने पर भी साधक को प्रसाद में स्वाधीनता मिलती है। इतना ही नहीं, वे सदैव शरणागत को स्वाधीन ही देखना पसन्द करते हैं। यह उनकी सुहृदयता है। वे कितने अच्छे हैं, किसी भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनकी महिमा की कोई सीमा नहीं है। इस सम्बन्ध में जिस किसी ने कहा है कम है। हाँ, उन्हीं के दिये हुए विवेक के सदुपयोग से भी मानव स्वाधीन हो जाता है। परन्तु स्वाधीनता पाकर कृतकृत्य हो जाना प्रेमी को नहीं भाता। उसे तो प्रेमास्पद की प्रियता ही प्यारी लगती है। उसी से प्यारे को रस मिलता है। प्रभु-विश्वासी साधक सभी प्रियजनों को प्रेमास्पद के समर्पित कर सदा के लिये निश्चिन्त हो जाता है। प्रभु-विश्वासी के जीवन में भय तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। इतना ही नहीं, प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है, कारण कि प्रभु-विश्वास में सर्व-समर्थ प्रभु की कृपाशक्ति ही विद्यमान है, और वही प्रभु-प्राप्ति में हेतु है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्‌भावना सहित

....

२१७

वृन्दावन
दि० २६-८-६६

प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। वे ही एक मात्र अपने हैं और सब उन्हीं का है। उनकी मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता ही प्रभु-विश्वासी का जीवन है। जो कुछ हो रहा है उसमें उन्हीं की लीला को देखो और प्राप्त परिस्थितियों के सदुपयोग के द्वारा उनकी पूजा करो। जहां रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

तुम्हारे और उनके बीच उत्तरोत्तर प्रीति बढ़ती रहे, जिससे तुम उनके काम आ जाओ और उन्हीं की दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से उनकी बाटिका की सेवा करो। प्रभु-विश्वासी साधक के जीवन में किसी और का अस्तित्व ही नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखो। और निरन्तर नित-नव प्रियता पूर्वक प्रिय को लाड़ लड़ाती रहो। यही इस जीवन की सार्थकता है।

सभी संकल्प सर्व-समर्थ प्रभु के संकल्प में विलीन कर सदा के लिए निस्संकल्प हो जाओ। निस्संकलपता ही एक मात्र मानसिक द्वन्द मिटाने का अचूक उपाय है। सजग मानव को अपना शरीर संसार-रूपी बाटिका की खाद बना देनी चाहिये। यही मानव-जीवन की सार्थकता है। खाद वृक्षों को हराभरा बनाती है, फल-फूल से सम्पन्न करती है और वह अपने को मिटाकर

वृक्षों के काम आती है। उसी प्रकार मानव सर्व-समर्थ प्रभु का होकर उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का हर्षपूर्वक सदुपयोग कर बड़ी ही सुगमतापूर्वक सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री से भिन्न कुछ नहीं है। अतः प्रत्येक साधक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा साधन-निष्ठ होने में सर्वदा समर्थ है। परिस्थितियों की दासता में आबद्ध हो जाना तथा परिस्थितियों से भयभीत होना भारी भूल है। इसका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है। सत्संग के द्वारा सभी साधकों के साधन का निर्माण हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है। सत् का संग हमें उदार होने की, अचाह होने की और प्रेमी होने की प्रेरणा देता है। जानी हुई तथा की हुई बुराई का त्याग करते ही उदारता स्वतः आ जाती है। निज ज्ञान के प्रभाव से मानव अचाह, तथा श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति से प्रेम को पाकर प्रेमास्पद के लिए उपयोगी होता है। वास्तविक जीवन से निराश होना, हार मान कर बैठ जाना भारी भूल है, जिसे साधक को शीघ्रातिशीघ्र मिटा देना चाहिए। यह मांग अनुभव करना साधक का काम है और उसकी पूर्ति प्रभु के मंगलमय विधान से स्वतः होती है।

शारीरिक स्थिति, जो लिखते समय है वह पढ़ते समय तक रहेगी ही, यह कोई विधान नहीं है। इस कारण शरीर के सम्बन्ध में कुछ कहना-सुनना अर्थ नहीं रखता। इसकी ओर से निरुपाय होकर निर्भय रहना ही मूल मंत्र है।

सर्व-समर्थ प्रभु औषधि का विश्वास देना ही नहीं चाहते और हम लोग औषधि का पीछा ही नहीं छोड़ना चाहते। देखो

किसकी जीत होती है ! जो हो रहा है उसी में मंगल है। प्यारे प्रभु तुम्हें अपनी प्रियता प्रदान करते रहें, इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

२१८

वृन्दावन

दिनांक ३०-८-१९६९

परम भागवत प्रीति-स्वरूपा श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

क्या तुम नहीं जानतीं कि प्यारे परम करुणामय हैं, उनकी ओर से जो कुछ होता है वह मंगलकारी है। प्यारे की दी हुई पीड़ा क्या कभी अहितकर हो सकती है ? वे अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता प्रदान करते रहें, जिससे शरीर और सृष्टि की विस्मृति हो जाय। प्यारी पीड़ा शरीर की वास्तविकता का बोध कराती हुई साधक को अखण्ड स्मृति की प्रेरणा देती है। स्मृति की शिथिलिता में ही साधक शरीर और सृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है। हाँ, यह अवश्य है कि पीड़ा से प्रियजनों के हृदय में व्यथा होती है,

उस व्यथा से व्यथित होकर सहज भाव से होने वाले उपचार को प्रभु-प्रसाद के रूप में स्वीकार कर ही लेता हूँ। क्या अपने से अपनी कोई बात छिपी है, जो उनसे कही जाय। उनके अपने-पन से भिन्न भी कोई अपना अस्तित्व है? वे सर्व-समर्थ हैं, अपनापन स्थायी रूप से बनाये रखें और अपनी दी हुई प्रियता से अपनी पूजा कराते रहें। उनकी प्रियता से भिन्न और कुछ जीवन है ही नहीं। वे कितने दयालु हैं कि असह्य पीड़ा में भी नींद आती है, भूख लगती है और चर्चा करता हूँ, इसके अति-रिक्त क्या और माँगा जाय, भला तुम्हीं बताओ। हम सभी साधकों को, जैसी प्यारे की मौज हो उसी में मस्त रहना चाहिए। शरणागत को सदा के लिए बेमन का हो जाना चाहिए। अपने मन की कराते-कराते अनेक जन्म बिताये, इस जन्म का भी बहुत भाग बीत गया। अब तो वे ऐसी कृपा करें कि उन्हीं के मन की बात पूरी होती रहे। सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से तुम लोगों को अपनी आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

२१९

वृन्दावन
दिनांक ३-९-१९६९

अहैतुकी कृपा से पालित परम भागवत प्रीति-स्वरूपा,
जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

क्या अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक है? शुद्ध विश्वास, शुद्ध सम्बन्ध और शुद्ध मांग अनुभव करने पर कभी साधक और साध्य में दूरी, भेद, भिन्नता रह सकती है? कदापि नहीं। इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करो और अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर तथा उन्हीं की प्रीति होकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाओ।

........श्री गुरुचरणों में अगाध प्रीति होने से गुरु-वाक्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। पर यह रहस्य कोई विरले ही जान पाते हैं। गुरु-तत्व से अभिन्नता होने पर ही साध्य की उपलब्धि होती है। गुरु का दिया हुआ विश्वास तथा सम्बन्ध अपना जीवन हो जाय, यही गुरु-तत्व से अभिन्नता है। जब साधक के जीवन में अन्य विश्वास की गन्ध भी नहीं रहती, तब स्वतः आत्मीय सम्बन्ध से जागृत अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता उदित होती है। विश्वासी साधकों ने अपने विश्वास-पात्र से भिन्न के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया, तभी वे बड़ी सुगमतापूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर सके। जो कुछ दिखाई दे रहा है, उसमें किसी और की सत्ता नहीं है। अपने ही प्रेमास्पद अनेक रूपों में अनेक प्रकार की लीला कर रहे हैं अथवा यों कहो कि किसी न-किसी रूप में प्रीति और प्रियतम का ही नित्य विहार हो

रहा है। क्या लोभी की प्रीति स्वभाव से धन में नहीं होती ? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में जो आकर्षण है वह उन्हीं का है, जो उसका अपना है। साधक अनेक में एक को स्वीकार करता है। इस कारण उसकी दृष्टि में अपने साध्य से भिन्न कोई और नहीं रह जाता। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब अपना सुख न रह जाय, अपितु प्रेमास्पद की प्रियता ही अपना जीवन हो जाय। साधक को जो अभिनय मिला है उसे विधिवत् पूरा करते हुए लीलामय की लीला से अभिन्न हो जाना चाहिए— समस्त सृष्टि उन्हीं की लीलास्थली है और कुछ नहीं। इसमें जो अभिनय मिला है उसे पूरा करो। अभिनय का अन्त लीलामय की प्रियता में होना चाहिए। प्रियता से भिन्न तुम्हारा कोई और अस्तित्व नहीं है। इस वास्तविकता को अपनाओ और प्रेमास्पद के नित्य विहार में प्रवेश पा जाओ—यही मेरी सद्भावना है।

पुनः तुम दोनों को सप्रेम भेंट तथा बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२२०

वृन्दावन
दिनांक ५-६-१६६६

अहैतुकी कृपा से पालित, भक्तिमति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

प्रत्येक प्रभु-विश्वासी साधक को प्रभु की महिमा को अपना कर सब प्रकार से उनका होकर सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना अनिवार्य है। चिन्तित तथा भयभीत होने से साधक की बड़ी ही क्षति होती है, कारण कि चिंता और भय से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होता है। इस प्रमाद से साधक इतना असमर्थ हो जाता है कि जो कर सकता है वह भी नहीं कर पाता। अतः साधक के जीवन में चिन्ता और भय के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

ज्यों-ज्यों साधक चिन्ता और भय से रहित होता जाता है त्यों-त्यों अनन्त के मंगलमय विधान से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती जाती है। पूर्ण निश्चिन्त तथा निर्भय होने से साधक में उस अलौकिक, अनुपम सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है जो साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से अपने-अपने ढंग से प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र चिन्ता तथा भय से रहित हो जाना चाहिये। जब मानव सर्व-समर्थ का अपना है तब उसके जीवन में चिंता तथा भय नहीं रहना चाहिये। यदि कोई विचार-पथ का साधक हो तो भी निर्मम, निष्काम तथा असंग होने से चिन्ता तथा भय नहीं रह सकता।

यदि कोई भौतिकवादी साधक हो तो भी अकर्तव्य को त्याग, कर्तव्यनिष्ठ होने पर चिन्ता तथा भय से मुक्त हो जाता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि साधक के जीवन में चिन्ता तथा भय का कोई स्थान ही नहीं है।

प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री से भिन्न कुछ नहीं है। साधक साधन-सामग्री के उपयोग से साधन-निष्ठ होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है। साध्य स्वभाव से ही परम उदार, परम स्वतन्त्र एवं प्रेम से भरपूर हैं। उनकी उदारता की कोई सीमा नहीं है, प्रेम का कोई पारावार नहीं है, एवं वे सब प्रकार से स्वतन्त्र तो हैं ही, तभी उन्होंने मानव को साधन-निष्ठ होने की सदैव स्वाधीनता दी है। उस पर भी यदि हम साधन-निष्ठ नहीं होते तो हमारी ही भारी भूल है, जिसका सत्संग के द्वारा अन्त करना अनिवार्य है।

यदि साधक को स्वाधीनता भा जाय तो स्वाधीन होते ही उसमें स्वत: मंगलमय विधान से उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक और साध्य में जातीय एकता है। जिनमें जातीय एकता है उन्हीं में आत्मीय सम्बन्ध रहना चाहिए। तभी अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होगी, जो वास्तव में साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है।

सर्व-समर्थ प्रभु तुम्हें आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें, इसी सद्‌भावना के साथ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२२१

वृन्दावन

दिनांक ६-९-१९६९

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

दबी हुई नीरसता का अन्त मधुर स्मृति से ही हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। शरीर और संसार का सम्बन्ध स्वीकार करते हुए कोई भी नीरसता तथा अभाव से रहित नहीं हो सकता। प्रभु-विश्वास तथा प्रभु-सम्बन्ध ही अभाव का अभाव तथा नीरसता के अन्त में समर्थ है। शरीर और संसार का सम्बन्ध तो किसी भी सजग मानव को नहीं रखना चाहिए। समस्त विश्व विश्वनाथ का संकल्प ही है, और कुछ नहीं। और वे ही मानव के अपने हैं। इस वास्तविकता को अपनाये बिना कभी भी किसी को शान्ति, मुक्ति, भक्ति नहीं मिलती। अतः प्रभु-विश्वास ही एकमात्र अपनाने योग्य है। अन्य विश्वास का त्याग अनिवार्य है। इस तथ्य को जानकर शीघ्रातिशीघ्र विचारपूर्वक शरीर और संसार के सम्बन्ध का त्याग और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु-विश्वास को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि संसार के सम्बन्ध के त्याग से भी मानव अभय तथा स्वाधीन होता है, परन्तु प्रभु-विश्वास के द्वारा एक अनुपम अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है, जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। यद्यपि निर्भयता तथा स्वाधीनता में भी रस है, जीवन है, परन्तु आत्मीयता से

अभिव्यक्त अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता में रस का पारावार नहीं है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

सद्भावना सहित

....

२२२

वृन्दावन
दिनांक १५-९-१९६९

अहैतुकी कृपा से पालित, भक्तिमति प्रीति-स्वरूपा,

सर्वदा सर्व भाव से अनेक रूपों में एक ही को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

समस्त मानसिक रोगों की निवृत्ति एकमात्र मेरे जानते तभी हो सकती है जब साधक अपने द्वारा सर्व-समर्थ प्रभु के पावन विश्वास को अपनाकर वर्तमान परिस्थिति का आदर-पूर्वक सदुपयोग कर सके, और सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन में अविचल आस्था करे और अपने को उसका अधिकारी मान ले। कारण कि सर्वोत्कृष्ट जीवन में मानव-मात्र का जन्मजात् अधिकार है। यह मानव के रचयिता का अपना संकल्प है। वे सत्यकाम सत्य-संकल्प हैं। अपने करने की बात पूरी करने पर समस्या अवश्य हल हो जाती है, ऐसा प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है। प्रभु-विश्वास के समान और कोई महान् बल नहीं है; कारण कि वे सदैव हैं, सर्वत्र हैं समर्थ हैं, और विश्वास में उन्हीं का बल है। अथवा यों कहो, वे अपने विश्वास के अधीन हैं। उनके

विश्वास के महत्व को भूल जाने से ही जीवन में निराशा तथा भय उत्पन्न होता है। परन्तु उनके विश्वास का उपयोग वास्तविक माँग की पूर्ति में करना सार्थक होता है। ऐसा मेरा अनुभव है। तुम्हें शरीर की पीड़ा से पीड़ित नहीं होना चाहिए, अपितु उसे प्यारे का दिया हुआ तप मानकर धीरजपूर्वक शान्त रहना चाहिए .. ..। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे— इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२२३

वृन्दावन
दिनांक २१-११-१९६९

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

सच तो यह है कि सतत् प्राणशक्ति व्यय हो रही है, इसमें दो मत नहीं हैं। अतः प्राणों के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त हो जाना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब कि शरीर का सदुपयोग करते हुए इसके बनाये रखने का संकल्प सदा के लिए नाश हो जाय। पर सर्वसाधारण तो इस सत्य को सुन कर ही घबड़ाते हैं, अपनाने की तो बात ही कहाँ है। यद्यपि सत्य को अपनाये बिना कोई भी कभी भी असाधन

से रहित होकर साधन-निष्ठ नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सत्य के अपनाने से वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं होता, अपितु परम हित ही होता है। जीवन अपने में है। उसकी माँग उसकी प्राप्ति का उपाय है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना ही होगा। जीवन की माँग काम को खाकर साधक को देहाभिमान से रहित कर देती है, और वह फिर स्वतः पूरी हो जाती है। तो फिर साधक के जीवन में निराशा, भय और चिन्ता आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उदारता, समता और प्रियता की अभिव्यक्ति ही वास्तविक साधना है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग अर्थात् स्वयं के द्वारा सत् का स्वीकार करना। वह स्वीकृति ही साधना में परिणत हो जाती है और फिर साधना साध्य से अभिन्न कर देती है। साधना और साध्य में जातीय एकता है, अर्थात् साधना साध्य का ही स्वभाव है। साधक की जो वास्तविक माँग है वही साध्य का स्वरूप है। इतना ही नहीं, सत्ता रूप से साध्य से भिन्न कुछ है ही नहीं। जिसने साध्य से भिन्न के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार किया उसने बड़े ही सहज भाव से सर्वांश में सदा के लिए असाधन का अन्त कर दिया। अतः अपने लिए प्रेमास्पद से भिन्न कोई और है ही नहीं। इस वास्तविकता को अपनाओ और उन्हीं की प्रीति होकर उन्हीं से लाड़ लड़ाओ, यही मेरी सद्भावना है।...........।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२२४

पटना
दिनांक १३-१-१९७०

प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य कर्म द्वारा प्यारे प्रभु की पूजा करती हुई उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो। उनसे भिन्न किसी और का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इतना ही नहीं, वे ही परम स्वतन्त्र हैं और परम उदार तथा परम प्रेमी हैं। तुम उन्हीं की हो, यह बात वे जानते हैं और तुम मानती हो। तो फिर जीवन में भय, चिन्ता, निराशा आदि के लिए कोई स्थान ही कहाँ है!

प्रभु-विश्वासी साधक का अपना कोई संकल्प नहीं है, तो फिर निर्विकल्प स्थिति सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है और फिर आवश्यक संकल्प पूजा-भाव से पूरे होते रहते हैं, किन्तु प्रेमीजन निर्विकल्पता की शान्ति में रमण नहीं करते। प्रभु की अहैतुकी कृपा फिर उन्हें मुक्ति प्रदान करती है। परन्तु प्रेमीजन मुक्ति से मुक्त होकर स्वतः भक्ति के अधिकारी हो जाते हैं। भक्ति में अलौकिक, अद्वितीय, अनुपम रस है, जिससे जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी हो जाता है। शान्ति और मुक्ति भक्ति के पीछे-पीछे दौड़ती हैं। इस दृष्टि से भक्ति तत्व की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है, यह सद्गुरु-वाक्य है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था ही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है। प्रभु-विश्वास में सामर्थ्य प्रभु की ही होती है। इस कारण प्रभु-विश्वास प्रभु-प्रेम

की प्राप्ति का अचूक उपाय है। प्रियता की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। सब प्रकार के प्रलोभन तथा भय का अन्त हो जाय। भय तथा प्रलोभन से रहित साधक ही वास्तविकता को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। भय और प्रलोभन का मूल एकमात्र असत् का संग है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो व सतत् प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

……………………

२२५

इलाहाबाद
दिनांक १४-१-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित, भक्तमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई नित-नव रस का दान करती रहो, जिससे तुम्हारा पावन जीवन प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी हो जाय, यही मेरी सद्भावना है!

……………………जो कुछ होगा उसी में मंगल है, कारण कि शरणागत के जीवन में किसी प्रकार का भय तथा प्रलोभन शेष नहीं रहता, अपितु नित-नव उत्साह एवं तत्परता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। निश्चिन्तता एवं निर्भयता उसका सहज

स्वभाव हो जाता है। परम स्वतन्त्र, परम उदार प्रेम से परिपूर्ण प्यारे प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा शरणागत साधक को सब कुछ स्वत: देती रहती है। कारण कि शरणागत शरण्य का अत्यन्त प्रिय है, और शरणागत का सर्वस्व शरण्य ही है। इस दृष्टि से शरणागति के समान और कोई सफलता की कुञ्जी नहीं है। कारण कि भूल-जनित व्यथा ही व्यथा-निवृत्ति का अचूक उपाय है। निर्बल के बल कभी भी निर्बल को ठुकराते नहीं हैं, अपितु अपनाते ही हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। जिन्होंने उनके स्वभाव को उन्हीं की कृपा से अनुभव किया वे सब प्रकार से उन्हीं के होकर उनके प्रेम के पात्र बन गये, इस वास्तविकता में शरणागत साधक को अविचल आस्था रखनी चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। पुनः सद्भावना सहित बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२२६

वृन्दावन
दिनांक २०-१-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

अनन्त की अहैतुकी कृपा से यहाँ सकुशल पहुँच गया। शरीर कैसा है, इसे तो वे ही जानें, जिन्होंनें इसका निर्माण किया है। वास्तव में तो शरीर-रहित जीवन ही जीवन है। उसमें ही साधक की अविचल आस्था रहनी चाहिए। उस जीवन के बोध में ही मोह का नाश है। मोह-रहित होने पर ही साधक अभय होता है। इस दृष्टि से निर्मोहता प्राप्त किये बिना किसी भी साधक को किसी अन्य प्रकार से अपने को सन्तुष्ट नही करना चाहिए। निर्मोहता प्राप्त करने के लिए किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, अपितु विकास-काल में ही देहातीत जीवन का बोध होता है। श्रम शरीर से तादात्म्य जोड़ता है और विश्राम शरीर से असंग कर देता है। जितनी देर प्रभु का कार्य करना हो, उतनी देर शरीर का उपयोग करना है। कार्य का अन्त और असंगता की उपलब्धि एक साथ होती है। असंगता में ही अविनाशी जीवन की अभिन्नता है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

अविनाशी जीवन में ही स्वभाव से उदारता तथा प्रेम विद्यमान है। जो अविनाशी हैं वे ही उदार तथा प्रेमी हैं। इस

कारण अविनाशी से अभिन्न होना अनिवार्य है। उदारता तथा प्रेम जिनका सहज स्वभाव है वे ही अनिवाशी तथा परम स्वतन्त्र हैं। जो स्वतन्त्र है वे कभी शासक नहीं होते, और न किसी से शासित होते हैं। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने ज्ञानपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर चिर-विश्राम प्राप्त किया है, अथवा शरणागत होकर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो गये हैं। निश्चिन्तता तथा निर्भयता में भी चिर-विश्राम है, और विश्राम में समस्त साधनों की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। कारण कि विश्राम अनन्त से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहने देता। अर्थात् योग, बोध, प्रेम विश्राम में ही निहित हैं। और यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति होती है, इस वास्तविकता में कभी भी विकल्प नहीं होना चाहिए। विकल्प-रहित माँग ही माँग की पूर्ति का अचूक उपाय है। माँग का अनुभव करना साधक का प्रयास और उसकी पूर्ति साध्य का सहज स्वभाव है। इस दृष्टि से साध्य कितने महान् हैं, उदार हैं, प्रेमी हैं उसके व्यक्त करने के लिए कोई भाषा समर्थ नहीं है। अनन्त की महिमा अनन्त है। उसमें अविचल आस्था साधक का स्वधर्म है, जिसे अपनाकर साधक स्वतः साधन-निष्ठ हो जाता है। साधन-निष्ठ होने की स्वाधीनता साध्य की अहैतुकी कृपा से प्रत्येक साधक को प्राप्त है। प्राप्त स्वाधीनता का सदुपयोग ही साधक का परम पुरुषार्थ है। स्वाधीनता का सदुपयोग निज ज्ञान तथा अविचल आस्था से ही सिद्ध है। उसके लिए शारीरिक श्रम तथा किसी परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। तभी प्रत्येक साधक सिद्धि पा सकता है। ज्ञान से निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त होती है, और आस्थापूर्वक शरणागति से निर्विकारता आदि का तादात्म्य

नाश होता है। और फिर शरणागत में शरण्य से भिन्न कुछ रह नहीं जाता। शरण्य सदैव अपनी महिमा में अपने आप रमण करते हैं। और वही रमण प्रीति और प्रियतम का नित्य विहार है। अतः साधक प्रीति होकर साध्य के लिए उपयोगी होता है, अर्थात् प्रीति की माँग ही साधक की अन्तिम माँग है। इसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

अकिंचन

....

२२७

वृन्दावन
२७-१-१९७०

अहैतुकी कृपा से निर्मित भक्तिमति श्रीप्रिया,

प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो और सब प्रकार से प्रेमास्पद की होकर, प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा उनकी पूजा करो और उन्हीं की प्रीति होकर रस प्रदान करती हुई सर्वदा प्रेम में डूबी रहो। यही मेरी सद्भावना है। तुम्हारा निज-स्वरूप प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। उसी का क्रियात्मक रूप सेवा है और विवेकात्मक रूप त्याग है। इस दृष्टि से तुम सेवा, त्याग, प्रेम की मूर्तिमान चित्र हो। यह वास्तविकता सत्संग से साध्य है।

सत्संग मानव का स्वधर्म है। उसके लिए अपने को सर्वदा अथक प्रयत्नशील रखो, अर्थात् सत्संग के बिना किसी प्रकार

भी चैन से मत रहो। सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु मानव का अपना परम पुरुषार्थ है। अभ्यास शरीर-धर्म है और पुरुषार्थ स्वधर्म है। शरीर-धर्म लोकहित में हेतु है और स्वधर्म अपने कल्याण एवं परम प्रेम की प्राप्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से सत्संग के लिए ही सब कुछ किया जाता है। सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन सत्संग के बाह्य रूप हैं। 'स्व' के द्वारा सत्संग को स्वीकार करना सत्संग का वास्तविक स्वरूप है। मानव सेवा सङ्घ साधकों का संघ है। साधकों की सेवा सङ्घ की सर्वोत्कृष्ट सेवा है। इस दृष्टि से सत्संग-योजना ही सङ्घ का मुख्य प्रयास है। शरीर निरन्तर कालरूपी अग्नि में जल रहा है। उसके बिना जो कर सकती हो उसे शीघ्रातिशीघ्र कर डालो।

शरीर के बिना साधक अचाह हो सकता है; प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध जोड़ सकता है; की हुई, जानी हुई बुराई से रहित होने का व्रत ले सकता है; प्रभु-विश्वास के आधार पर अभय हो सकता है। प्रभु-प्रेम से साधक प्रभु के लिए उपयोगी हो सकता है। इस दृष्टि से प्रभु-विश्वास महान अवलम्बन है। उसे अपनाकर साधक साध्य से अभिन्न हो सकता है। प्रभु-विश्वास के समान और कोई सहज, स्वाभाविक, प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय नहीं है। यह विश्वासी साधकों का अनुभव है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

अकिंचन

....

२२८

कानपुर
३१-१-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीति-स्वरूपा श्रीप्रिया,

सदैव अपने ही में अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यही मेरी सद्भावना है।

प्रीति से भिन्न तुम्हारा और कोई अस्तित्व है ही नहीं; कारण कि तुम प्रेमास्पद की नित्य-प्रिया हो। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। जो साधक वेदवाणी अथवा सद्गुरु-वाक्य के आधार पर यह स्वीकार कर लेता है कि मुझे अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, कारण कि उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुझे मानव-जीवन मिला है; इस जीवन का कोई और उद्देश्य ही नहीं है; सुख-दुःख तो केवल साधन-सामग्री के रूप में अपने आप आते-जाते रहते हैं; उनका सदुपयोग करते हुए निस्सन्देहतापूर्वक यह स्वीकार कर लिया जाय कि अभाव, पराधीनता, नीरसता, जड़ता आदि विकारों से रहित जो जीवन है वह मुझे मिल सकता है, तो फिर साधक में स्वतः वास्तविक जीवन की माँग जागृत होती है। यद्यपि यह माँग मानव-मात्र में बीज रूप से विद्यमान है, परन्तु उसमें अविचल आस्था न होने से माँग शिथिल हो जाती है, और काम उत्पन्न हो जाता है। फिर साधक शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से तद्रूप होकर रुचि-पूर्ति में प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति से भिन्न और कुछ प्राप्त नहीं होता, अपितु अन्त में साधक सामर्थ्य का ह्रास एवं

अपने को जड़ता एवं पराधीनता आदि में आबद्ध ही पाता है। किन्तु जब वह अपने को लक्ष्य की प्राप्ति का अधिकारी मान लेता है तब अविनाशी, स्वाधीन रसरूप जीवन की माँग सबल तथा स्थायी होती है। माँग के सबल होने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने विषय से विमुख होने पर माँग से अभिन्न हो जाते हैं और फिर स्वतः मंगलमय विधान से माँग पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से साधक को लक्ष्य की प्राप्ति में लेशमात्र भी विकल्प नहीं करना चाहिए। माँग अपनी पूर्ति में आप समर्थ है, अर्थात् काम की निवृत्ति और माँग की पूर्ति होती है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित मानव-जीवन के महत्व को स्वीकार किया है। शरीर, वस्तु आदि का महत्व तो केवल अपनी भूल से ही प्रतीत होता है। यह जानते हुए भी कि शरीर आदि किसी भी वस्तु की वास्तविक स्थिति नहीं है, केवल भोग की रुचि के कारण मानव शरीर से तद्रूप होकर प्रवृत्तियों में आबद्ध हो जड़ता आदि अनेक विकारों से पीड़ित होता रहता है। भोग की रुचि का सर्वांश में नाश वास्तविक माँग की जागृति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं होता। तप आदि से रुचि दब जाती है, मिटती नहीं है। माँग की जागृति से भोग की रुचि सर्वांश में सदा के लिए नाश हो जाती है। माँग की जागृति तभी होती है जब साधक लक्ष्य की प्राप्ति में विकल्प नहीं करता। अतएव प्रत्येक साधक को इस वास्तविकता को स्वीकार ही कर लेना चाहिए कि जिस अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-जीवन दिया है उसने सत् को स्वीकार करने की सामर्थ्य भी दी है। यह मानव-जीवन का सत्य है कि मानव को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। सत् को

स्वीकार करना सत्संग है और सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। सत्संग से ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों का नाश होता है और फिर स्वतः कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता से उदित अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। साधना साधक में स्वतः अवतरित होती है। साधना साधन-तत्व से अभिन्न होकर साध्य को रस प्रदान करती है। वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। काम से भोग, मोह, आसक्ति में प्राणी आबद्ध होता है और वास्तविक माँग की जागृति से साधक को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है, जो मानव मात्र का लक्ष्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

अकिंचन

....

२२६

उल्हासनगर

दिनांक १४-२-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित, दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमीजनों में सोई हुई प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करने में तत्पर रहो। यही मेरी सद्-भावना है।

प्रीति और प्रीतम से भिन्न अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं है, पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्हें प्रेमास्पद ने अपनी अहैतुकी कृपा से सद्गुरु-वाक्य द्वारा आत्मीयता प्रदान की है। अपने में अपनी प्रियता तो स्वाभाविक ही है, परन्तु उनके नाते सभी को आदर-प्यार देना भी एक सहज स्वभाव

है। कारण कि प्यारे की हर चीज प्यारी है, प्यारे के प्यार को बढ़ाने के लिए।

प्रीति से भिन्न अपना कुछ अस्तित्व रह न जाय, यह तभी सम्भव होगा जब कोई और मेरा नहीं है। सभी में अपने प्यारे ही हैं। सभी से अपना कोई मतलब नहीं, अर्थात् उनसे भिन्न किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। अनेक रूपों में एक ही का खेल है और वही अपना प्रिय है। जिसका कोई प्रिय है उसके जीवन में नीरसता आ ही कैसे सकती है ? अर्थात् कभी नहीं। नीरसता के नाश में ही नित-नव रस की अभिव्यक्ति है और वही तुम्हारा निज-स्वरूप तथा तुम्हारे प्रेमास्पद की महिमा है। तुम अनन्त की महिमा से भिन्न कुछ नहीं हो, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। सद्गुरु-वाक्य में आस्था करो, सफलता अवश्यम्भावी है। इससे भिन्न आस्था का कोई सदुपयोग नहीं है। प्यारे अपनी महिमा को सतत् अपनी प्रियता प्रदान करते रहें, जिससे उनकी महिमा उनके काम आती रहे, प्रेमीजनों की यथोचित सेवा होती रहे जिससे प्रेमास्पद को भी प्रसन्नता रहे। कारण कि साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है। यह शरणागतों का अनुभव है। साधक साध्य को और साध्य साधक को अत्यन्त प्रिय हैं। कारण कि परस्पर प्रेम का ही आदान-प्रदान है, और उसी में रसरूप जीवन है, जिसकी माँग सभी साधकों को सदैव है। सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु आत्मीय साधकों को अपनी अगाध प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ-साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन कोई एक शरणागत

....

२३०

करनाल
दिनांक २३-२-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

सदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

सत्संग के द्वारा साधन-निष्ठ साधक को कभी किसी से किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती—यह जीवन का सुन्दर चित्र है। इतना ही नहीं, उससे भी किसी को किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती है। कारण कि वह सभी का अपना होने से सर्व-प्रिय हो ही जाता है। शिकायत वही करता है जो पराधीन है। पराधीन वही है जिसने जीवन के सत्य को, वेद-वाणी को एवं सद्गुरु-वाक्य को नहीं अपनाया। अपने में अपने प्रेमास्पद हैं, इस वास्तविकता को अपना लेने पर साधक अचाह तथा अप्रयत्न हो जाता है, किसी प्रकार की पराधीनता शेष नहीं रहती, प्रेमास्पद का प्रेम ही उसका जीवन हो जाता है। प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर नीरसता शेष नहीं रहती। नीरसता का नाश होते ही स्वाधीनता एवं उदारता की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधक कृतकृत्य हो जाता है। अधिकतर प्रमादवश साधक जगत् और जगत्पति के कर्तव्य को सोचता रहता है। तभी उसके मन में किसी-न-किसी के प्रति शिकायत उत्पन्न होती है। प्रेमियों को प्रेमास्पद से, उदार को जगत् से और स्वाधीन को अपने से कोई शिकायत नहीं रहती। इस दृष्टि से

साधन-निष्ठ साधक को किसी से शिकायत नहीं रहती। दूसरों के कर्तव्य का ध्यान उन्हीं को आता है जो स्वयं अपने कर्तव्य को भूलते हैं। कर्तव्यनिष्ठ होने में साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। कारण कि किसी भी साधक को वह नहीं करना है जो नहीं कर सकता। परन्तु जब साधक प्रमादवश वह कर बैठता है जो नहीं करना चाहिए तब कर्तव्यपालन में असमर्थता प्रतीत होती है। वास्तव में कर्तव्यनिष्ठ होने में साधक स्वाधीन है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। प्रभु-विश्वासी में अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध की गन्ध भी नहीं रहती। और फिर साधक स्वतः स्वाधीन तथा प्रेमी हो जाता है। अन्य सम्बन्ध से ही अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं और अन्य विश्वास से ही प्रभु-विश्वास सजीव नहीं होता। प्रभु-विश्वास सजीव होने पर साधक अभय, स्वाधीन, प्रेमी तथा उदार हो जाता है और फिर उसे कभी किसी से किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती। प्रभु-विश्वास के समान और कोई महान् अचूक उपाय नहीं है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था होने से ही प्रभु-विश्वास सजीव होता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रभु-विश्वासियों को अपना विश्वास तथा आत्मीय सम्बन्ध प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है। जहाँ रहें प्रसन्न रहें, जो करें ठीक करें और सब प्रकार से प्यारे प्रभु की होकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जायँ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२३१

श्रीगंगानगर

दिनांक २६-२-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,
जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

जब तक साधक अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार नहीं करता तब तक वह किसी-न-किसी प्रकार की पराधीनता में ही आबद्ध रहता है, और स्वाधीन हुए विना उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती । और उसके बिना जीवन सार्थक नहीं होता। इस दृष्टि से अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। मानव अपनी ही भूल से अपने में ममता तथा कामनाओं को उत्पन्न कर प्रेमास्पद की आत्मीयता से विमुख हो जाता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। अतः प्रत्येक साधक को ज्ञानपूर्वक निष्काम एवं असंग होना अत्यन्त आवश्यक है। निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। वह केवल अपनी भूल से ही अपने को पराधीन मान लेता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सर्वांश में नीरसता का अन्त करने के लिए आत्मीयता से प्राप्त प्रियता को प्राप्त करना प्रभु-विश्वासी साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है। प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। ज्ञानपूर्वक अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग हो जाता है, और फिर आस्थापूर्वक प्रभु-विश्वास को अपनाकर आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२३२

देहरादून

दिनांक २२-४-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को उनकी प्रीति होकर रस प्रदान करती रहो। यही मेरी सद्भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। प्रतिपल प्यारे की पूजा करती हुई उत्तरोत्तर प्रीति की भूख बढ़ती रहे, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है। यही वास्तविक सत्संग है। कारण कि यह सदा-सदा का सत्य है। एकमात्र वे ही अपने हैं, अपने में हैं। इस वास्तविकता में विकल्प के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरणागत का कोई और नहीं है। उनकी अहैतुकी कृपा निरन्तर बरस रही है, ऐसा अनेक घटनाओं से प्रत्यक्ष हो रहा है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

... .

२३३

ऋषिकेश
दिनांक २७-४-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति दिव्य-ज्योति,
जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

संघ की मूल नीति है कि संघ की वस्तुओं पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार कभी भी न हो। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण एकमात्र व्यक्ति-निर्माण से होता है। व्यक्ति का निर्माण अधिकार-त्याग से होता है। अपने-अपने अधिकार-त्याग की भावना जिन-जिन साधकों में हो, वे ही संघ की यथेष्ट सेवा कर सकते हैं। संघ की सेवा का अर्थ मानव-जाति की सेवा है, किसी वर्ग विशेष की नहीं। मानव सेवा संघ कोई आन्दोलन नहीं है, अपितु क्रान्ति है। क्रान्ति एकमात्र अपने-अपने द्वारा होती है। मानव में सजगता आ जाय और वह यह अनुभव करे कि मैं मानव होने के नाते उदार, स्वाधीन तथा प्रेमी हो सकता हूँ। इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है। इस वास्तविकता को मानव स्वीकार करे और सत्संग के द्वारा उदार, स्वाधीन तथा प्रेमी होकर सभी के काम आ जाय, इसी सद्भावना से संघ का अवतरण हुआ है। प्रत्येक परिस्थिति में मानव उतना ही बड़ा मानव है जितना कोई कभी हुआ है। मेरे जानते कुछ सजग मानव, मानव होने के लिए तत्पर हो जायँ, जिससे मानव-जाति की क्रान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। केवल सम्पत्ति-संग्रह से क्रान्ति नहीं

होती, अपितु संग्रह के विरुद्ध समाज में एक प्रतिक्रिया होने लगती है, जो विनाश का मूल है। आप स्वयं अन्तर्यामी की प्रेरणा से कार्य किया करें। उन्हीं का कार्य है। तुम एक यन्त्र हो। वे जो करायें सो करो—जैसे राखें रहो। सेवा, त्याग, प्रेम मानव का अपना स्वरूप है, इसी को आस्था-पथ की दृष्टि से भक्ति कहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रभु की है अथवा व्यक्तिगत रूप से किसी की नहीं है। यह एक विज्ञान है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२३४

वृन्दावन
दिनांक १५-७-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा, दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

शरणागत साधक की सभी समस्याएं अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः हल हो जाती हैं। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। वास्तव में तो समस्या का अनुभव होना ही साधक के वास्तविक विकास का आरम्भ है। समस्या स्वयं प्रार्थना का रूप धारण कर लेती है, और स्वतः हल हो जाती है। प्रार्थना ही तो साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान

पाते हैं जो अपने लक्ष्य से निराश नहीं होते। हृदय की आँखें हृदयेश्वर स्वयं खोल देते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। जिसने गुरु-वाक्य के आधार पर अपने में सदैव अपने प्रेमास्पद को स्वीकार किया है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान में ही प्रेमास्पद की प्रीति होकर सर्वदा प्रिय को रस देने में ही लगा रहता है। क्या अपना अपने को प्यारा नहीं लगता? जिसका कोई प्रिय है उसके जीवन में नीरसता, खिन्नता कभी भी उत्पन्न नहीं होती, और जीवन स्वतः रसरूप हो जाता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। जो वर्तमान में विद्यमान है उसके लिये भविष्य की आशा भूल है। जिसके लिए पराश्रय तथा परिश्रम अपेक्षित नहीं है उसकी प्राप्ति के लिए कभी भी विकल्प नहीं करना चाहिये। विकल्प-रहित आस्था कल्पतरु के समान फलवती होती है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

वर्षों के बाद आज सिर की पीड़ा से पीड़ित होकर चाय पिया है। पीते ही सत्संग का काम चल गया। मेरे जानते Unconcious (अचेतन मन) में चाय की रुचि छिपी होगी। उसकी पूर्ति के लिए प्रभु ने सिर की पीड़ा का रूप धारण किया। जो भी हो,वे बड़े ही चतुर-शिरोमणि मनोवैज्ञानिक हैं। जिस-जिस प्रकार शरणागत का हित होता है वही लीला करते हैं। चाय का कप हाथ में आते समय ऐसा लगता था न जाने कितना मजा आयेगा, पर एक घूँट पीते ही एक पुरानी बात याद आ गई:—

> जब तक मिले न थे तो जुदाई का था ख्याल,
> अब यह मलाल है कि तमन्ना निकल गई।

इसका अर्थ है कि संयोग में कितना सुख होगा, यह भ्रम

है। संयोग होते ही हाथ कुछ नहीं लगता। जीवन योग में है, संयोग में नहीं। योग, जो अपने में अपने हैं, उन्हीं से होता है। योग की मांग मानव की अपनी माँग है। उसकी पूर्ति अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः होती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२३५

वृन्दावन
दि० ६-८-१९७०

प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

साधक का विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार लहर और समुद्र दोनों ही में सत्ता रूप से जल ही है, उसी प्रकार अपने में और सृष्टि में एकमात्र सत्ता रूप से श्रीहरि ही है। पर शरीर और सृष्टि का अविभाज्य सम्बन्ध होने से शरीर को विश्वरूपी बाटिका की सेवा में लगा देना अनिवार्य है। परन्तु अपने को विश्वनाथ की प्रीति हो जाना है, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है। अपने, अपने में मौजूद हैं—यह अविचल आस्था रहनी चाहिए। अपने मानने से ही अपने में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता से प्रेमास्पद को रस मिलता है,और वे स्वयं प्रीति होकर प्रेमियों को रस प्रदान करते रहते हैं। प्रीति और प्रियतम के नित्य विहार में ही साधक की साधना की पूर्णता है। साधना साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। साधक साधना से और साधना साध्य से

सर्वदा अभिन्न है। सत्संग से ही साधक में साध्य की अभिव्यक्ति होती है। बुराई-रहित होने से शरीर और विश्व में एकता हो जाती है और फिर ऐसा अनुभव होता है कि विश्व है, शरीर नहीं। और आत्मीयता से जागृत अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता से अनन्त से अभिन्नता हो जाती है। वास्तव में तो एकता थी ही, है ही। असत्-संग से जो भेद और भिन्नता प्रतीत होती थी वह सत्संग से सदा के लिए स्वतः मिट जाती है। इस दृष्टि से सत्संग में ही जीवन है। व्यक्त और अव्यक्त, विश्व की ही दो अवस्थाएं हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है। व्यक्त में अव्यक्त का दर्शन करते ही निर्ममता, निष्कामता, असंगता स्वतः हो जाती है। और फिर साधक सृष्टि के प्रभाव से रहित होकर अनन्त की समीपता, एकता एवं अभिन्नता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध का बोध सेवा, त्याग, प्रेम को प्रदान करता है, जो भक्ति का स्वरूप है। मानव सेवा संघ की प्रणाली में शान्ति, मुक्ति, भक्ति साधना ही है। साध्य तो एक अनुपम अचिन्त्य अद्वितीय तत्व है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति के द्वारा साध्य की प्राप्ति होती है। उसका कथन, चिन्तन, वर्णन साधन-रूप ही है। साध्य क्या हैं, इसे साध्य ही जानें। साध्य के सम्बन्ध में जिस किसी ने जो कुछ कहा है वह अधूरा है। अथवा यों कहो कि उतना तो है हो, उससे विलक्षण भी है।' 'है' में आस्था 'है' की प्राप्ति का अचूक उपाय है। ज्ञान से विश्व की निवृत्ति और विश्वास से विश्वनाथ की प्राप्ति होती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२३६

वृन्दावन

दिनांक १६-८-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

प्रत्येक दशा में अनन्त की प्रीति होकर सर्वदा लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

शरीर तो विश्व-रूपी बाटिका की सेवा-सामग्री है ही। बड़े हर्ष की बात है कि महाविद्यालय के रूप में उसका उपयोग किया जा रहा है। सभी कार्य अपने प्यारे के ही हैं। उन्हें जो-जो भावे, सोई-सोई करें। कभी अविद्या-निवृत्ति, अर्थात् भूल-रहित करने के लिए भी आपके प्यारे आपके शरीर का उपयोग साधकों की सेवार्थ करायेंगे ही।

आज मानव-समाज बड़ी ही कठिन परिस्थिति से गुजर रहा है। भिन्न-भिन्न प्रकार के संघर्षों की धूम मची है। प्यारे की लीला! जैसी चाहें करें, जो चाहें सो करायें; पर अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास बनाये रखें। उनकी शरणागति को पाकर सभी सब कुछ पा गये। इस दृष्टि से शरणागत की सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती है। प्रभु-विश्वासी साधक के लिए शरणागति एकमात्र अचूक उपाय है। इस वास्तविकता में अनन्त की अहैतुकी कृपा से अविचल आस्था बनी रहे, सफलता अवश्यम्भावी है। शरणागत के सभी संकल्प अनन्त के संकल्प में और शरणागत का अस्तित्व शरण्य के अस्तित्व में सदा के लिए विलीन हो जाता है। उनकी प्रियता ही शरणागत

का जीवन हो जाता है। प्रियता की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, सफलता अवश्यम्भावी है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। शरणागत की प्रियता से ही अभिन्नता हो जाती है। प्रियता ही एक ऐसा अनुपम तत्व है जिससे जीवन शरण्य के लिए उपयोगी हो जाता है, अर्थात् प्रियता ही साधक के विकास की चरम सीमा है। प्रियता के लिए उत्कट लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। प्रियता की माँग जीवन की अन्तिम माँग है। जो प्रियता से निराश नहीं होता उसे प्रियता अवश्य प्राप्त होती है, यह करुणानिधि का मंगलमय विधान है। इतना ही नहीं, प्रियता ही एकमात्र शरणागत का जीवन है। वास्तविक जीवन से कभी भी निराश नहीं होना चाहिए। जब साधक लक्ष्य से निराश नहीं होता और अपने द्वारा उसे पूरा नहीं कर पाता तब स्वत: एक वेदना जागृत होती है, जो वास्तविक प्रार्थना का रूप धारण कर लेती है। वैधानिक प्रार्थना अवश्य पूरी हो जाती है, यह सर्व-समर्थ सर्वाधार की महिमा है। जिसने उनकी महिमा को अपनाया वह सब कुछ पा गया। उनके अस्तित्व और महत्व में जिसे विकल्प नहीं होता वही शरणागत होकर कृतकृत्य हो जाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

………………

२३७

हैदराबाद
दिनांक २८-८-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम हरिस्मरण।

संसार-रूपी बाटिका में विचरते हुए, मानवता का सन्देश जो मिला है उसे सुनाते हुए जहाँ चाहे शरीर शान्त हो जाय, पर शरणागत को पता न चले कि सूखी मिट्टी की भाँति शरीर कब कहाँ झड़ गया। मानव की स्वाभाविक स्थिति कर्तव्य के अन्त में जाग्रत सुषुप्तिवत् रहनी चाहिए, कारण कि शरणागत साधक के आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे होकर मिट जाते हैं और अनावश्यक उत्पन्न ही नहीं होते। निःसंकल्पता सहज तथा स्वाभाविक स्थिति है। पर प्रेमियों को तो उसमें भी रमण नहीं करना है। इतना ही नहीं, अपने में सन्तुष्ट होने पर भी सन्तुष्ट नहीं होना है। तभी अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता से प्यारे प्रियतम को रस मिल सकता है। प्रिय को रस देना ही प्रेमी का जीवन है। जिसे अपने लिए कभी भी कुछ नहीं चाहिए, केवल आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता ही जिसे अभीष्ट है, वही शरणागत साधक है। शरणागत को एकमात्र शरण्य की प्रीति ही चाहिए। शरण्य को तो सभी शरणागत स्वभाव से ही अत्यन्त प्रिय हैं। पर शरणागत को भी शरण्य

प्यारे लगें, यही शरणागत की पुकार है। निरन्तर रोम-रोम से प्रीति की पुकार होती रहे। सर्व दुखों की निवृत्ति, चिर-शान्ति, जीवनमुक्ति अपने लिए भले ही हितकर हो, परन्तु प्रेम के बिना जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। जो जीवन उनके लिए उपयोगी नहीं है, वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो, निरर्थक ही है। प्रेम की माँग जीवन की अन्तिम माँग है। प्रेमास्पद अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं—यह सद्गुरु-वाक्य है, वेदवाणी है। इसमें अविचल आस्था अनिवार्य है। अपने होने से अपने को स्वभाव से प्रिय हैं और अपने में होने से उन्हें कहीं बाहर नहीं खोजना है। अभी होने से भविष्य के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी है। अतः प्रियता होकर वर्तमान में ही उन्हें अपने में पाना है। जिससे देशकाल की दूरी है ही नहीं उनसे वर्तमान में ही अभिन्न होना है। अभिन्न होने के लिए अखण्ड स्मृति, प्रियता एवं अपने अपको सदा के लिए खो देना है, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्त।

अकिंचन

....

२३८

दिनांक ५-९-७०

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

बड़े ही आश्चर्य की बात यह है कि जिसकी प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है, उसी को असम्भव मानकर निराश सा हो रहा है, और जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है उसी के पीछे दौड़ रहा है। परिणाम में श्रमित होने के अतिरिक्त कुछ भी हाथ न लगेगा। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। श्रमित मानव असमर्थता में आबद्ध हो जाता है, फिर भी न जाने क्यों सर्व-समर्थ में अविचल आस्था करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से असमर्थ का ही सर्व-समर्थ से आत्मीय सम्बन्ध हो सकता है। इस वास्तविकता को अपनाये बिना सर्वांश में सदा के लिये साधक असमर्थता की व्यथा से मुक्त नहीं हो सकता, परन्तु सद्गुरु-वाक्य के आधार पर असमर्थ प्राणी सर्व-समर्थ के अस्तित्व और महत्व को क्यों नही अपनाकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है—यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

विधान के अनुसार सभी साधक आवश्यक कार्य पूरा कर सकते हैं और अनावश्यक कार्य का त्याग कर सकते हैं। परिणाम में विश्राम पा सकते हैं। विश्राम में स्वतः साधक साधन-निष्ठ होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है, इस दृष्टि से साधक

के जीवन में असफलता के लिये कोई स्थान ही नहीं है। पर साधक अपनी ही भूल से उत्साहहीन होकर एक अजीब दशा में फँस गया है। साधक को कभी भी साध्य से निराश नहीं होना चाहिए, अपितु साध्य की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर, सजगता, तत्परता एवं नित-नव उत्साह बढ़ता रहना चाहिये। उत्साहहीनता के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इस भूल का शीघ्रातिशीघ्र सदा के लिए, अन्त करना अनिवार्य है। साधक के जीवन में उत्साह-रूपी उत्सव सतत होना चाहिये। उत्साह में चेतना है, उत्साह में सरसता है और उत्साह में सफलता है। उत्साहहीनता जीवन में तभी आती है, जब साधक साध्य की प्राप्ति में अविचल आस्था नहीं करता, जिसका साधक के जीवन में कभी भी, कुछ भी स्थान नहीं है। साध्य उसी को कहते हैं जो सभी साधकों को मिल सकता है। कारण कि साध्य अनुत्पन्न हुआ अविनाशी तत्व है। अविनाशी तत्व सर्व देश, सर्व काल में सदैव ज्यों-का-त्यों है। उसमें आस्था करना साधक का परम पुरुषार्थ है। साध्य में आस्था 'मैं' के द्वारा होती है, 'यह' के द्वारा नहीं। जो अपने द्वारा स्वीकार किया जाता है, उसे कोई, और कभी भी मिटा नहीं सकता। अतः प्रत्येक साधक को अपने द्वारा अपने लिए साध्य के अस्तित्व एवं महत्व को अपना लेना चाहिए। जिसने साध्य के अस्तित्व तथा महत्व को अपनाया, उसके जीवन में किसी और का अस्तित्व तथा महत्व ही नहीं रह जाता। इसी वास्तविकता को प्रीति-स्वरूपा गोपियों ने कहा — 'नाहिन रह्यो मनमें ठौर।' और शरणागत ने कहा कि 'नाहिन रह्यो कोई और।' तो फिर नित्य मिलन, नित्य विरह से भिन्न जीवन में कुछ और है ही नहीं। मिलन और विरह प्रेम-सिन्धु के दो तट

हैं। पर यह रहस्य उन्हीं को स्पष्ट होता है जिन्होंने सद्गुरु-वाक्य के आधार पर साध्य की शरणागति स्वीकार की है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२३६

वृन्दावन

दिनांक २१-६-१९७०

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद की प्रीति होकर रहो। यही मेरी सद्भावना है।

जो साधक पूरी शक्ति लगाकर प्रभु का कार्य करते हैं उन साधकों की सारी व्यवस्था प्रभु स्वयं करते हैं, यह उनका सहज स्वभाव है। इतना ही नहीं, साध्य ही की महिमा साधन-तत्व है और साध्य ही की रचना साधक है। जिस प्रकार लहर और सागर में सत्ता जल ही की है, लहर और सागर का किसी भी काल में कोई अस्तित्व ही नहीं है। उसी प्रकार साध्य ही की सत्ता है, और किसी की नहीं। इस वास्तविकता में आस्था अनिवार्य है। प्रभु-विश्वासी साधक का रोम-रोम प्रभु-प्रेम से भर जाता है, पर कब? जब उसकी दृष्टि में प्रभु से भिन्न का

अस्तित्व ही नहीं रहता। जीव और जगत् उस अनन्त की विभूति हैं, और कुछ नहीं। क्या जिसे इस वास्तविकता में आस्था है, उसकी दृष्टि में कोई और है ? इससे भिन्न अखण्ड समाधि कुछ नहीं। तुम जिसकी प्रिया हो, वे परम उदार, परम स्वतन्त्र एवं परम प्रेम से भरपूर हैं। उनके दिये हुए प्रेम से ही प्रेमी उन्हें रस प्रदान करता है, उनकी दी हुई उदारता से ही प्रभु-विश्वासी जगत् को प्रसन्न करता है, उनकी दी हुई स्वाधीनता से ही साधक अविनाशी जीवन से अभिन्न होता है। क्या कहा जाय ! साध्य ही साधन-तत्व तथा साधक होकर लीला कर रहे हैं। लीलामय की लीला अजर, अमर, अविनाशी और रसरूप है। शरणागत को उन्होंने बिना माँगे सब कुछ दिया है, देते हैं, और देते रहेंगे। मिले हुए से उनकी पूजा करती रहो। प्रीति की भूख ही जीवन की वास्तविक भूख है। उनका कार्य ही सच्ची पूजा है। उनके होकर रहने में ही वास्तविक निर्भयता है। साधना का रस मत लो। साध्य को रस दो। यह तभी सम्भव होगा जब प्रीति से भिन्न और कोई मांग न रह जाय, पूजा से भिन्न और कोई काम न रह जाय, और उनकी आस्था ही अपना अस्तित्व हो जाय। यह सब सम्भव है। इसमें लेशमात्र भी विकल्प मत करो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२४०

आगरा

दिनांक ६-११-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा भक्तिमती,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम यथोचित।

यदि साधक निःसंकल्प हो जाय तो सभी आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे हो-होकर निर्विकल्पता में साधक का प्रवेश करा देते हैं—अर्थात् निःसंकल्प होने से निर्विकल्पता प्राप्त होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। शरीर आदि वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग अपने लिए नहीं है, अपितु अपने प्यारे की विश्व-वाटिका के लिए है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। अपने लिए तो एक सत्संग ही अभीष्ट है। उसी से साधक साधन-निष्ठ हो जाता है। सत्संग साधक का अपना स्वधर्म है, शरीर-धर्म नहीं।

स्व के द्वारा सत्य को स्वीकार कर साधक बुराई-रहित होकर जगत् के लिए और अचाह होकर अपने लिए एवं आत्मीयता से प्राप्त अखंड स्मृति तथा अगाध प्रियता से प्रेमास्पद के लिए उपयोगी हो जाता है। जीवन उपयोगी हो जाय, यही साधक का लक्ष्य है। अपने लक्ष्य को अपने द्वारा स्वीकार करना एवं उसकी पूर्ति में विकल्प-रहित विश्वास करना अनिवार्य है। जिसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं होता, उसकी आवश्यकता सबल तथा स्थायी हो जाती है। आवश्यकता अनुभव करने में ही

साधक का प्रयास है। उसकी पूर्ति कर देना साध्य का सहज स्वभाव है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में असफलता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। जिसे किसी प्रकार की पराधीनता भाती नहीं है उसी में स्वाधीनता की माँग जागृत होती है। स्वाधीनता की माँग पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर स्वाधीनता प्रदान करने में समर्थ है। यह निर्विवाद सत्य है। सत्य में अविचल आस्था तथा उसे स्वीकार करना साधक का परम पुरुषार्थ है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

२४१

वृन्दावन

दिनांक २७-११-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित, दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, इसी सद्‌भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

संसृति का प्रभाव तुम्हें छू न सकेगा। डरो मत, घबड़ाओ मत, अधीर होने की आवश्यकता नहीं। जिनके हाथ में तुम्हारा हाथ दिया गया है वे सब प्रकार से पूर्ण तथा समर्थ हैं। वे शरणागत को छोड़ना जानते ही नहीं हैं। तुम उनकी महिमा न भूलो। वही तुम्हारा मूलाधार है। जिन्होंने उनकी महिमा का आश्रय लिया वे सभी पार हो गये। इस वास्तविकता से प्रेमियों का इतिहास भरा है। पर उसका दर्शन एकमात्र अकिंचन शरणागत साधकों को ही होता है। यद्यपि संसृति उन्हीं का

प्रकाश है, कुछ और नहीं; परन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब शरणागत की दृष्टि में उसका अपना कोई और नहीं रहता। तुम्हारी व्यथा मेरी अपनी व्यथा है, कारण कि मैंने साधकों की सेवा स्वीकार की थी। तुम अपनी ओर से किसी और के अस्तित्व को ही स्वीकार न करो। वे लीलामय तुम्हें मोह तथा मोहक बन में फँसने न देंगे। उनसे सहायता न माँगो। अपने सहित सारा भार उन्हीं पर डाल दो। तुम उनकी प्रीति हो, इस वास्तविकता को न भूलो। सफलता अवश्यम्भावी है।

वर्तमान कार्य में पूर्ववत् चित्त नहीं लगता, इससे यह स्पष्ट ही है कि अब तुम्हें अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की भूख जगेगी। पूजा स्मृति की तैयारी में है। स्मृति की भूख जगने पर पूजा फीकी-फीकी हो जाती है। तुम अपनी दशा मत देखो, अपितु अपने स्वरूप को देखो। भला तुम तक कभी भी सृष्टि पहुँच सकती है? कदापि नहीं। अहंकृति का नाश, योग तथा बोध का उदय एवं स्मृति की जागृति सब एक साथ होती है। इसमें साधक का प्रयास नहीं है, अपितु वह साधक की माँग है। माँग प्रयास नहीं कहलाती। कारण कि उसका सम्बन्ध शरीर से नहीं है। वर्तमान कार्य से लेकर निर्विकल्प स्थिति तक शरीर का क्षेत्र है। तुम्हें निर्विकल्पता का बोध है। अतः तुम अवस्था नहीं हो। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं है। तुमसे भी बहुत सूक्ष्म तुम्हारे प्रेमास्पद तुम्हीं में हैं। वे तुम्हें जानते हैं, देखते हैं। तुम उनकी महिमा में डूब जाओ। कभी-कभी कह दिया करो—प्यारे! अपनी महिमा में मेरी अगाध प्रियता एवं अविचल आस्था कर दो। समस्त साधनों में भी तो साध्य की ही सत्ता है। साधक की साधनों से एकता होती है और साधन-

तत्व की साध्य से एकता रहती ही है। सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें साधन-तत्व से अभिन्न कर दें, यही मेरी अपनी माँग है। उन्होंने सदैव मेरी माँग को पूरा किया है। ऐसा अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है । जिन्होंने प्रभु-विश्वासी के द्वारा प्रभु-विश्वास को स्वीकार किया, समर्थ ने अपने विश्वासी की लाज को सदैव रखा है। उनकी महिमा भूल जाने पर साधक अधीर हो जाता है। इस दशा में उनकी महिमा की स्मृति ही एकमात्र अचूक उपाय है, यह सद्गुरु-वाक्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२४२

वृन्दावन

दिनाङ्क ३-१२-१९७०

अहैतुकी कृपा से पालित दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

अपने में अपने प्रेमास्पद हैं। उन्हीं की प्रीति होकर उन्हीं को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है। किसी भी कार्य को घबड़ाकर करना भारी भूल है। धीरज जीवन का प्रधान अंग है। उसे सुरक्षित रखना अनिवार्य है। अधीरता तो केवल सोई हुई प्रीति के जगाने में ही चाहिए। शरीर-सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए अधीर होना भारी भूल है। प्रियता में ही प्रियतम का नित्य वास है और प्रियता ही एकमात्र साधक का जीवन है। ज्यों-ज्यों साधक अपने में अपने साध्य को स्वीकार करता है, त्यों-त्यों प्रियता स्वतः सबल तथा स्थायी होती जाती

है। प्रियता के सबल होने में ही जीवन की सफलता है। प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, बस यही सफलता की कुंजी है। जिसे सचमुच अपने लिए कभी कुछ भी नहीं चाहिए उसी में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता से ही प्रियतम को रस मिलता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। आत्मीयता ही प्रियता की जननी है। आत्मीयता को स्वीकार करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

समस्त साधनों का फल आत्मीयता की जागृति में ही है। वे सदैव अपने हैं, यह ध्रुव सत्य है। अपने को अपना स्वीकार करना ही अपना पुरुषार्थ है। और यह साधक के लिए बहुत ही स्वाभाविक है। वे अपने हैं, इसी में जीवन की पूर्णता है। अपना अपने को स्वभाव से ही प्यारा लगता है। प्यार से ही प्रेमास्पद को रस मिलता है। वे प्यारे लगते रहें, यही माँग सदैव रहनी चाहिए। प्रियता की माँग काम का अन्त कर साधक को साध्य से अभिन्न करती है, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। जहाँ तक हो सके वर्तमान कार्य को विधिवत् पवित्र भाव से पूरा करती हुई प्रीति की भूख बढ़ाती रहो, सफलता अवश्यम्भावी है। सच तो यह है कि प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है। तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, और न शरीर तुम्हारा है। शरीर तो केवल संसार-रूपी बाटिका की खाद है, और कुछ नहीं। साधक का अस्तित्व एकमात्र साध्य की प्रियता है। जीवन का जो सत्य है उसे अपनाओ, और अभय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ-साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२४३

प्रयाग
दिनांक २३-१-१९७१

प्रीति-स्वरूपा दिव्य-ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

आत्मीय प्रभु-विश्वासी साधकों की व्यथा से व्यथित एक अकिंचन शरणागत की माँग है कि सर्व-समर्थ तुम्हें अपनी मुरलिया बनायें, जिससे तुममें तुम्हारा कुछ न रहकर उन्हीं का प्राण तुम्हारा प्राण हो जाय और तुम सदैव उनके अधरामृत का पान करती हुई उनके प्रेमियों के हृदय में प्रीति को जगाकर प्रेमास्पद की सतत् सेवा करती रहो। तभी मुझे चैन मिलेगा। इसने जिसे प्रेमास्पद के अर्पित किया है, वह प्रेमास्पद की प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करे। प्रीति से भिन्न तुम्हारा कुछ भी अस्तित्व न रह जाय, तभी मुझे आराम मिलेगा। यद्यपि एकमात्र प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है और कुछ नहीं, परन्तु तुम्हें कभी-कभी कुछ और भासित होने लगता है, इससे मुझे बड़ी व्यथा होती है। तुम कभी अपने स्वरूप को मत भूलो। यही मेरी सर्वोत्कृष्ट सेवा है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२४४

बम्बई
दिनांक ११-२-१९७१

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रेमतत्व से निर्मित, अनन्त की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमियों के हृदय में प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्‌भावना है।

साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है, ऐसा मेरा विश्वास है। सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर आपके द्वारा सतत् साधकों की सेवा कराते रहें, यही मेरी उत्कट लालसा है। शरणागत साधक के लिए शरीर का रहना-न रहना समान है, कारण कि उसकी आत्मीयता तो केवल श्रीहरि में ही है और प्रियता ही उसका जीवन है, जो अविनाशी है। आत्मीय साधकों की व्यथा मेरी अपनी व्यथा है। प्यारे प्रभु सदैव मेरा दुःख हरते रहे हैं। अतः आत्मीय साधकों का कल्याण अवश्य होगा, वे प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करेंगे ही। जिन्होंने सद्‌गुरु-वाक्य द्वारा आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया है, प्रियता ही उनका निज-स्वरूप है। प्रियता अनन्त है, नित-नव है और वही तुम्हारा अपना स्वरूप है, तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। जब अपने में शरीर-भाव नहीं रहता तब किसी भी शरीर में आसक्ति नहीं रहती, अर्थात् निर्मोहता स्वतः सिद्ध हो जाती है। केवल सद्‌गुरु-वाक्य से प्राप्त आत्मीयता से जागृत प्रियता ही शेष रहती है। वही प्रभु-विश्वासी शरणागत साधकों का अपना स्वरूप है। प्रियता

ही गुरु-तत्व है और उसी से प्रेमियों की एकता होती है, यह सद्गुरु-वाक्य की महिमा है। शरीर चाहे जहाँ रहे, चाहे जैसा रहे, अथवा न रहे, उससे अपनी कोई क्षति नहीं होती। अपने में जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनकी प्रियता ही अपना जीवन है। प्रियता से दूरी, भेद, भिन्नता शेष नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध, प्रेम प्रियता का ही स्वरूप है। प्यारे प्रभु अपने है, अपने में हैं, अभी है—इस वास्तविकता को अपनाते ही निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति होती है और उसी में जीवन है। भूतकाल भूल जाओ, वर्तमान की सरसता से भविष्य उज्ज्वल बनाओ। प्रत्येक दशा में अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करो। जीवन-धन सदैव अपने में ही हैं, इस वास्तविकता में विकल्प मत होने दो, सफलता अवश्यम्भावी है। सर्वदा प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में रत रहो, इसी सद्भावना के साथ, ●

अकिंचन कोई एक शरणागत

………… ……

२४५

बम्बई

दिनांक १४-२-१९७१

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रेम तत्त्व से निर्मित, प्राणनाथ की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम सदैव उन्हीं की हो और वे तुम्हारे हैं। इतना ही नहीं, तुममें तुम्हारा कुछ भी नहीं, सब कुछ उन्हीं का है। उनकी

दी हुई प्रियता से ही उन्हें आनन्दित करती रहो। प्रियता की माँग ही जीवन की अन्तिम माँग है, और वही तुम्हारा निज स्वरूप है।

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। शरीर तो तुम्हें विश्व-बाटिका की सेवा के लिए मिला है। शरीर और विश्व दोनों ही उन्हीं से सत्ता पाते हैं, उन्हीं से प्रकाशित हैं और उन्हीं के हैं और वे तुम्हारे अपने हैं।

जीवनोपयोगी महावाक्य—

(१) मेरा कुछ नहीं है।

(२) मुझे कुछ नहीं चाहिए।

(३) प्रभु ही अपने हैं।

(४) सब कुछ प्रभु का ही है।

अपना सदैव अपने ही में है। बुराई-रहित होकर भलाई का अभिमान गल जाने पर अपने में सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य आ जाती है और फिर साधक अपने ही में साध्य को पाकर सदा के लिए आनन्द-विभोर हो जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द। ●

एक अकिंचन शरणागत

....

२४६

भागलपुर
दिनांक १३-४-१९७१

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित, परम प्रेमास्पद परम सुहृद् सर्वाधार सर्वान्तर्यामी प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद की महिमा से ही उन्हें नित-नव रस प्रदान करती रहो। यही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। इस वास्तविकता से अभिन्न होकर योग, बोध, प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाओ, यही मेरी सद्‌भावना है।

जीवन की माँग अवश्य पूरी होती है—यह सद्‌गुरु-वाक्य तथा वेदवाणी है। इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने भूल-रहित होकर अपनी माँग का अनुभव किया है। माँग का अनुभव ही मानव का परम पुरुषार्थ है। माँग काम को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है, यह अनन्त का अनुपम विधान है। विधान का आदर करो और सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। विधान के आदर से ही माँग सबल होती है। इस दृष्टि से विधान में अविचल आस्था अनिवार्य है। माँग से कभी किसी को निराश नहीं होना चाहिए। काम की निवृत्ति, माँग की पूर्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है। सत्य को स्वीकार करना साधक का स्वधर्म है, जिसे वह सदैव स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। इतना ही नहीं, सत्य को स्वीकार करने का दायित्व साधक पर है, शेष सब कुछ अर्थात् साधना का उदय साधक में स्वतः साध्य की अहैतुकी कृपा से होता है। सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता मानव को अपने रचयिता

से प्राप्त है। अतः स्वाधीनता का सदुपयोग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल मन्त्र है। मानव स्वाधीनता का सदुपयोग कर अभय हो जाता है, अर्थात् भयहारी हरि उसे अपना लेते हैं। और फिर, कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। स्वाधीनता के सदुपयोग से ही स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता की प्राप्ति में ही अविनाशी, रसरूप, चिन्मय जीवन है।

प्रत्येक साधक को प्राप्त स्वाधीनता के सदुपयोग तथा ज्ञान के प्रकाश से भूल-रहित होकर शीघ्रातिशीघ्र स्वाधीन हो जाना चाहिए। स्वाधीनता की उपलब्धि वर्तमान की वस्तु है। उसे भविष्य पर नहीं टालना चाहिए। वर्तमान की सरसता से ही भविष्य उज्ज्वल होता है, कारण कि प्रेमास्पद सदैव अपने ही में मौजूद हैं। प्रेमी होने की माँग से ही प्रेमास्पद अपना अनुपम अलौकिक प्रेम प्रदान करते हैं। यह प्रेमियों का अनुभव है। प्रेमास्पद से प्राप्त प्रेम से ही प्रेमास्पद की वास्तविक सेवा-पूजा होती है, अर्थात् उनकी दी हुई साधना से ही साध्य से अभिन्नता होती है। सत्य को स्वीकार करते ही परम उदार, परम स्वतन्त्र प्यारे प्रभु साधक को साधन-निष्ठ कर सदा-सदा के लिए अपना लेते हैं। वे सदैव अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं। तो फिर उनकी नित्य प्राप्ति में विकल्प करना साधक की अपनी ही भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु अपने शरणागतों को निज ज्ञान के प्रकाश में भूल-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२४७

ऋषिकेश
दिनांक २१-४-१९७१

अहैतुकी कृपा से पालित, सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा साधकों में सोई हुई प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो। इसी सद्भावना के साथ सप्रेम-यथोचित स्वीकार करें।

प्राणी भूल करते-करते थकता नहीं है और प्राणनाथ सदैव रक्षा करते ही रहते हैं। फिर भी प्राणी उनके प्रेम को न अपनाये, इससे बढ़कर और कोई जड़ता नहीं हो सकती। साधक के साधन-निष्ठ होने में करुणामय का स्वयं संकल्प है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक अपने सभी संकल्प प्यारे प्रभु के संकल्प में विलीन कर निर्विकल्प हो जाता है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२४८

वृन्दावन
दिनांक १०-११-१९७३

प्रीति-स्वरूपा, प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा शरणागत साधकों के हृदय में सोई हुई प्रीति को जगाती रहो, यही मेरी सद्भावना है। कारण कि साधकों की सेवा में ही साध्य की प्रसन्नता निहित है।

प्राणेश्वर के प्रिय साधको, सावधान ! निज ज्ञान-गुरु के प्रकाश में अनुभव करो कि उत्पत्ति बिना आधार और प्रतीति बिना प्रकाशक के नहीं होती। इस दृष्टि से जो दृश्य का आधार तथा प्रकाशक है वही समस्त साधकों का अपना है, अपने में है, अभी है, समर्थ तथा अद्वितीय है। उस साध्य में ही साधक की अविचल आस्था तथा श्रद्धा और विश्वास अनिवार्य है। कारण कि एकमात्र विश्वास ही विश्वासपात्र की प्राप्ति में हेतु है। जिन भाग्यशीलों को यह विश्वास प्राप्त है, वे धन्य हैं। उनके जीवन में किसी अन्य विश्वास की गन्ध ही नहीं रहती। विश्वास से सम्बन्ध और सम्बन्ध से स्मृति तथा प्रियता स्वतः होती है—यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार कर साधक को साधन-निष्ठ होने के लिए सतत अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

जो सत्य ज्ञान और आस्था से साध्य है उसके स्वीकार करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता साधक को साध्य की अहैतुकी कृपा से जन्मजात्

प्राप्त है। अतः साधक साधन-निष्ठ होने में सर्वदा समर्थ है। इस वास्तविकता को अपनाओ और अभय हो जाओ। इसी सद्-भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२४९

वृन्दावन

दिनांक १५-११-१९७३

भगवत् कृपाश्रिता प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

उत्पत्ति का आधार, प्रतीति का प्रकाशक जो है, वही सदैव, सर्वत्र, सभी का होने से अपना है, अपने में है, और अभी है। जब यह सत्य स्वीकार कर लिया तो फिर भय, चिन्ता तथा निराशा के लिये तो कोई स्थान ही नहीं रह जाता। अतः अपने में अपनी प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहे। कारण कि प्रेमास्पद के समान प्रेम-तत्व भी असीम तथा अनन्त है। शरीर चाहे जैसा रहे, पर विश्वरूपी वाटिका की खाद हो जाय। यह तभी सम्भव होता है जब साधक अकिंचन, अचाह तथा अप्रयत्न होकर शरणागत हो जाय। यही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है।

बड़े हर्ष की बात है कि तुमने साधकों की सेवा सहर्ष स्वीकार की है। मेरे विश्वास के अनुसार साधकों की सेवा में ही साध्य की प्रसन्नता निहित है। यह जीवन का सत्य है। सेवा, त्याग तथा प्रेम की जननी है। पर यह रहस्य कोई विरले ही जानते हैं। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, और अपने में अपने से भिन्न का अस्तित्व ही स्वीकार न करो; तभी चिर-विश्राम, स्वाधीनता, एवं पावन प्रेम की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है।

एक ही अनन्त, अनेक रूपों में, अनेक भाव से प्रकट होता है। अत: अपने प्रेमास्पद से भिन्न किसी और का अस्तित्व ही स्वीकार न करो। बस, तुम्हारी सभी समस्याएँ हल हो जायेंगी, और तुम अभय होकर नित-नव-रस का दान करोगी। और फिर तुम्हारे प्रेमास्पद प्रेमी होकर तुम्हें अपनायेंगे। तुम सदा-सदा के लिये कृतकृत्य हो जाओगी। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से, सभी साधकों को अपनी आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

●

अकिंचन

....

२५०

वृन्दावन
दिनांक १-१-१९७४

भगवत् आश्रिता, प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

अपने में अपना कुछ नहीं है, इस वास्तविकता को अपनाकर सर्वांश में रिक्त हो जाओ। प्यारे के प्राणी तुम्हारे प्राण हो जायँ, इसी सद्भावना से प्यारे की प्यारी को बहुत-बहुत प्यार।

सभी साधक साध्य के होकर रहें और उन्हीं की महिमा को अपनाकर सभी के लिए उपयोगी हो जायँ, यह माँग जीवन की माँग है। अनुपयोगी वही रहता है जिसे अपने लिए किसी से कुछ चाहिए। इस प्रमाद का अन्त करना अनिवार्य है। अपना करके सृष्टि में कुछ नहीं है। अपने, अपने में अवश्य हैं। अपने में अपनी प्रियता स्वतः होती है, की नहीं जाती। करना यही है कि करना कुछ नहीं है। केवल प्रेमास्पद के अस्तित्व और महत्व को अपनाना है। 'है' को स्वीकार करना और 'नही' को 'नहीं' जानकर उससे विमुख होना, यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता साध्य ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रत्येक साधक को दी है। सत्य को स्वीकार करने मात्र से ही साधक में साधना की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वतः सदैव साध्य से अभिन्न रहती है, कारण कि वह साध्य की महिमा है और वही साधक का जीवन है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनाकर उपयोगी बनाएँ—इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

....

२५१

वृन्दावन
४-१-१९७४

परम भागवत, प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

किसी-न-किसी प्रकार का सुख ही अहंभाव को जीवित रखता है। यह जीवन का सत्य है। जिस माँग का तुम अनुभव कर रही हो, वह माँग स्थायी तथा सबल होने दो। माँग स्वयं सुख को खाकर पूरी हो जायगी, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। निःसन्देह वे सर्वदा, सर्वत्र अपने ही में मौजूद हैं। उनकी अनुपस्थिति तो है ही नहीं। परन्तु आत्मीयता से जागृत प्रियता उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। प्रेम स्वयं प्रेमी को खाकर प्रेमास्पद के लिए रसरूप होता है। उनको रस देने की उत्कट लालसा उत्तरोत्तर तीव्र होनी चाहिए। यह जीवन उनके लिए उपयोगी हो जाय, उनकी कृपा से हो जाय, अभी हो जाय, यह लालसा स्वयं अहं को खा जायेगी। यह निर्विवाद सत्य है।

प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति में विलीन होकर सोई हुई प्रीति को जगा दे, इस पवित्रता से प्रवृत्ति का आरम्भ होना चाहिए। अपने, अपने को प्यारे होते ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है; परन्तु प्रेमी होकर भी जीवित नहीं रहना है, प्रेम से अभिन्न होना है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपना प्रेम प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

....

२५२

वृन्दावन
दिनांक ७-१-१९७४

परम भागवत, प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

अपनेपन का भास मानव का सर्वप्रथम भास है, अर्थात् प्रत्येक भाई-बहिन अपने को स्वीकार करते हैं। पर मैं क्या हूँ ? यह प्रश्न हमें विचार करने के लिए विवश करता है। यदि मेरी कोई माँग न होती तो सृष्टि से परे भी कोई जीवन है, यह प्रश्न ही न होता। परन्तु मुझे जीवन चाहिए। जीवन उसे नहीं कहते जिसका नाश हो जाय और न उसे कहते हैं जिसमें चेतना न हो और जो रसरूप न हो। अर्थात् अविनाशी, चिन्मय, रसरूप जीवन की माँग मेरी माँग है। परन्तु जब मैं इस वास्तविक माँग को भोग की रुचि से ढक देता हूँ तब मेरा सम्बन्ध उत्पन्न हुए शरीर और संसार से हो जाता है। यदि मेरी माँग सबल तथा स्थायी हो जाय तो मेरा शरीर और संसार से सम्बन्ध टूट जाता है। परन्तु शरीर और संसार तो अभिन्न हैं, अर्थात् शरीर से संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। परन्तु मेरा संसार से काल्पनिक सम्बन्ध है। काल्पनिक सम्बन्ध होने के कारण मुझे संसार के प्रति उदार रहना चाहिए। उदार होते ही हृदय करुणा और प्रसन्नता से भर जाता है। करुणा से भोग की रुचि और प्रसन्नता से काम का नाश हो जाता है और फिर मेरा सम्बन्ध उस अविनाशी तत्व से हो जाता है, ज्ञान जिसका स्वरूप है, प्रेम जिसका स्वरूप है, योग जिसकी महिमा है और जो अनुत्पन्न हुआ अविनाशी स्वतन्त्र तत्व है।

योग की माँग भोग की रुचि को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है और फिर मोह तथा आसक्ति का सदा के लिए अन्त हो जाता है और बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। योग, बोध, प्रेम में ही जीवन है, जो अनन्त की महिमा और मानव का स्वरूप है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२५३

वृन्दावन
दिनांक ११-१-१९७४

मानव-जीवन में ही धर्म की चर्चा है, कारण कि मानव ही धर्मात्मा होता है। जो मानव अपने पर सभी के अधिकार मान लेता है वह धर्मात्मा हो जाता है, यही शुद्ध भौतिकवाद है। मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने पर धर्म अभिव्यक्त होता है और फिर सभी के अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते हैं। इस दृष्टि से धर्मात्मा की माँग सभी को होती है और उसमें स्वाधीन होने की सामर्थ्य आ जाती है। यह धर्म का परिणाम है। कर्तव्य-निष्ठ बनाने के लिए ही समय-समय पर राष्ट्र की कल्पना हुई। दूसरों का अधिकार देना मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य है। बल का दुरुपयोग रोकने के लिए ही समस्त सामाजिक प्रयास हैं। अतः मानवमात्र को यह व्रत लेना कि बल का

दुरुपयोग नहीं करूंगा, अत्यन्त आवश्यक है। इसी से विश्व-शान्ति की समस्या हल होती है और फिर स्वत: मानव में विवेक का प्रकाश होता है, जो उसे अपने में सन्तुष्ट कर चिर-शान्ति तथा अमरत्व से अभिन्न कर देता है।

विवेक मानव को सजगतापूर्वक अधिकार-त्याग की प्रेरणा देता है। विवेकी के जीवन में अधिकार-लोलुपता की गंध भी नहीं रहती। दूसरों के अधिकार की रक्षा करना धर्म है और अधिकार-त्याग का नाम विवेक है। दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग करना अनिवार्य है। तभी मानव अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर अपने को अपने में सन्तुष्ट कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है और फिर अशान्ति और पराधीनता की गन्ध भी नहीं रहती। स्वाधीन होते ही साधक स्व में अपने परम प्रेमास्पद को पा जाता है और फिर वास्तविक आस्था उदय हो जाती है। यही आस्तिक-वाद है। आस्तिक के जीवन में प्रेम तथा प्रेमास्पद का नित्य विहार ही शेष रहता है। इतना ही नहीं, कर्तव्यनिष्ठ जगत् के लिए उपयोगी होता है। यह मानव-जीवन की विलक्षणता है। मानव का निर्माण जिसने किया है उसी में आस्था रहनी चाहिए।

मानव का स्वरूप क्या है? स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्यपरायणता, विवेक और विश्वास ही मानव का स्वरूप है। मानव प्रकृति का कार्य नहीं है। प्रकृति का कार्य तो शरीर है। शरीर मानव का स्वरूप नहीं है। कर्तव्यपरायणता, विवेक का प्रकाश और विश्वास का तत्व जिसमें है वही मानव है। मानव, मानव होने से साधक है। साधक होने से सत्य को

स्वीकार करना, उसका परम पुरुषार्थ है तथा स्वधर्म है। इसी कारण मानव सेवा संघ ने व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामूहिक सत्संग की प्रेरणा दी है। व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा मानव अपने को कर्तव्यनिष्ठ, विवेकी और प्रेम तत्व से अभिन्न कर सकता है। व्यक्तिगत सत्संग सम्पन्न होते ही व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान हो जाता है। व्यक्तिगत समस्या हल होते ही पारिवारिक तथा सामूहिक समस्या भी हल हो जाती है। अतएव व्यक्तिगत सत्संग परम अनिवार्य है।

मुझ पर सभी का अधिकार है और मेरा किसी पर नहीं है—इस महामंत्र को अपनाकर मानव कर्तव्यपरायण, अर्थात् धर्मात्मा और विवेकी हो जाता है। धर्मात्मा होने से जगत् के लिए और विवेकी होने से अपने लिए उपयोगी होता है और फिर उसे अपने रचियता की आस्था प्राप्त होती है, जिसे अपनाकर वह परम प्रेम से अभिन्न हो जाता है। प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रभु-विश्वास की अपेक्षा है। प्रभु-विश्वास का उपयोग केवल प्रभु-प्राप्ति में ही है। परमात्मा उसे नहीं कहते जो सदैव होने से अभी न हो, सर्वत्र होने से अपने में न हो, सभी का होने से अपना न हो तथा अद्वितीय एवं समर्थ न हो। यह भक्तवाणी से सुना है। संसार के काम आने के लिए कर्तव्यपरायणता पर्याप्त है। सर्व दुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति तथा अमर जीवन के लिए निज ज्ञान का आदर अनिवार्य है। ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का रस मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति होती है। यह जीवन का सत्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२५४

वृन्दावन

दिनांक १५-१-१९७४

भगवत्कृपाश्रिता, परम भागवत, प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

प्रभु-विश्वास के समान और कोई परम औषधि नहीं है। उसी का सहारा लो, उसी की चर्चा करो, जिससे मानसिक शान्ति सुरक्षित रहे। निश्चिन्तता तथा निर्भयता आने से प्राण-शक्ति सबल होती है, जो रोग मिटाने में समर्थ है। उसके लिए हरि-आश्रय तथा विश्राम ही अचूक उपाय है। भय तथा चिंता-रहित होने से मानसिक विश्राम होता है और हरि-आश्रय से निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्राप्त होती है। जो सभी के अपने हैं, उन्हीं के होकर रहो, उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करो।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२५५

वृन्दावन

दि० १८-१-१९७४

प्रभु-आश्रिता, परम भागवत, प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर निश्चिन्त तथा निर्भय रहो, यही मेरी सद्‌भावना है।

संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। जीवन की तो वास्तविक मांग है; जो सबल तथा स्थायी हो जाने पर स्वतः पूरी हो जाती है, और फिर साधक सदा के लिए निर्विकल्प होकर अभय हो जाता है। संकल्प-पूर्ति के सुख को पसन्द करने से नवीन संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। इस कारण सजग साधक संकल्प-पूर्ति का सुख नहीं भोगते, उसे जीवन नहीं मानते। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि संकल्प संसार से और माँग अपने परम आत्मीय प्रभु से सम्बन्ध जोड़ती है। संसार के सम्बन्ध से अभाव, पराधीनता, अशान्ति और नीरसता ही उत्पन्न होती है, और प्रभु के आत्मीय सम्बन्ध से अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास की जननी है। अतएव सभी संकल्प एक माँग में, सभी सम्बन्ध प्राणप्यारे की आत्मीयता में एवं सभी विश्वास प्रभु-विश्वास में विलीन करना अनिवार्य है। इस सत्य को स्वीकर करने में प्रभु-विश्वासी साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता मानव-मात्र को अपने रचियता से मिली है। मिली हुई स्वाधीनता

का सदुपयोग ही जीवन का सत्य है और सत्य को स्वीकार करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है।

प्रभु-विश्वासी के जीवन में किसी अन्य विश्वास के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम दोनों को पूर्ण आत्मीयता प्रदान करें। इसी सद्-भावना के साथ,

अकिंचन

....

२५६

करनाल

दिनांक २८-३-१९७४

अहैतुकी कृपा से पालित, प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो और उन्हीं के नाते सद्भावपूर्वक मानव-समाज की मूक सेवा करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

व्यक्तिगत तथा सामूहिक सत्संग के द्वारा ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक शांति की स्थापना हो सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है। कर्तव्यपरायणता की विस्मृति से मानव-समाज अधिकार-लोलुपता में आबद्ध होकर संघर्ष में फँस गया है, और हमारा देश नेता- विहीन होने के कारण मनमानी करने लगा है। विवेक का अनादर होने के कारण बल का दुरुपयोग होने लगा

है, यही मूल भूल है। इसका निवारण कर्तव्य-परायणता को अपनाने पर ही सम्भव है। आज हमें जीने और मरने का सदुपयोग करना नहीं आता। यदि मरना भी ठीक आ जाता तो भी समाज में सजगता आ जाती। इस समय मूक सेवा के अतिरिक्त और कोई अचूक अस्त्र नहीं है। ऐसा मेरा अनुभव है। सुख-दुःख का सदुपयोग भूल जाने से हमारी दुर्दशा हो रही है। सुख-दुःख दोनों ही प्राकृतिक तथ्य हैं और रहेंगे ही। उनके सदुपयोग में ही मानव की स्वाधीनता है, जिसे आज हम भूल गये हैं। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को प्राप्त सुख-दुःख के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे वे सुखः-दुख से अतीत वास्तविक जीवन को प्राप्त कर सन्तुष्ट हो जायँ। असन्तुष्ट होने से ही संघर्ष का जन्म होता है, और ऐसी दशा में हमें सही राह नहीं सूझती। जीवन तथा जीवन-धन अपने में है—इस वास्तविकता के भूल जाने से हम परिस्थितियों में जीवन की खोज करते हैं, जो कि संभव नहीं है। परिस्थितियाँ साधन-सामग्री भले ही हों, साध्य नहीं हैं। साध्य की विस्मृति से ही साधन-सामग्री को साध्य मान बैठते हैं, जो कि वास्तव में प्रमाद है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२५७

हरिद्वार

दिनांक २-४-१९७४

परम भागवत, साधननिष्ठ, प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर उन्हीं के नाते सोई हुई प्रीति को जगाने के लिए विधिवत् पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो—इसी सद्भावना के साथ सप्रेम यथोचित।

सभी जरूरी काम प्रभु के मंगलमय विधान से स्वतः होते रहते हैं और यदि साधक सजगतापूर्वक काम-रहित हो जाय तो वास्तविक माँग स्वतः पूरी हो जाती है, यह जीवन का सत्य है।

प्रत्येक साधक को अपने ही द्वारा, ज्ञान के प्रकाश में, अपने आकर्षण को देखना चाहिए। कारण कि आकर्षण के अनुरूप ही शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं, और फिर साधक अपनी वास्तविक माँग को भूल जाता है। इतना ही नहीं, अपने आकर्षण का यथेष्ट अनुभव करने पर वास्तविक माँग की जागृति होती है और वह काम को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। पराधीनता के आकर्षण ने ही हमें अपने से अपने को विमुख कर दिया है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यदि साधक पराधीनता की पीड़ा से पीड़ित होकर स्वाधीनता की माँग

अनुभव करे, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने में अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है, यह सजग साधक का अनुभव है।

लक्ष्य पर दृष्टि रखकर पर-सेवा से पराधीनता की रुचि स्वाधीनता की माँग में बदल जाती है। स्वाधीनता की माँग ही स्वाधीनता की प्राप्ति का अचूक उपाय है। यह निर्विवाद सत्य है। पराधीनता असह्य हो जाय, यही मानव का परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता मानव को अपने रचयिता से जन्मजात् प्राप्त है। मानव अपनी ही भूल से स्वाधीनता से निराश होकर पराधीनता में आबद्ध हो गया है, जो विनाश का मूल है।

वास्तविक मांग अवश्य पूरी होती है, इस सत्य में अविचल आस्था रहनी चाहिए। सर्वतोमुखी विकास स्वतः होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को स्वाधीन होने की तीव्र लालसा प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को सादर अभिवादन।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२५८

वृन्दावन
दिनांक २४-७-१९७४

प्रीति-स्वरूपा, प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से अपने परम प्रेमास्पद की होकर रहो, उन्हीं के नाते सभी को आदर दो और सभी के प्रति सद्भाव रखते हुए सर्वदा उत्तरोत्तर प्रीति की भूख बढ़ती ही रहे, इसी सद्भावना के साथ सस्नेह अभिवादन ।

माँग ही माँग की पूर्ति में समर्थ है, इस वास्तविकता को स्वीकार करने पर साधक के जीवन में उत्तरोत्तर उत्कण्ठा तथा लालसा बढ़ती ही रहती है और यही माँग-पूर्ति का अचूक उपाय है । साधक ज्यों-ज्यों साध्य की महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों उसमें स्वतः साधन की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधना जीवन हो जाती है । यह प्रभु का मंगलमय विधान है । शरणागत साधक के जीवन में चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति एवं अनन्य भक्ति से निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है । इस दृष्टि से शरणागत को सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय रहना चाहिए और प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए, सफलता अवश्यम्भावी है ।

जीवन के सत्य को स्वीकार करने पर साधक का कुछ और प्रयास शेष नहीं रहता । जीवन का सत्य क्या है ? मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होना और अचाह होकर सभी के प्रति सद्भाव रखना और इस वास्तविकता को स्वीकार करना कि

सर्व-समर्थ प्रभु सभी के होने से अपने हैं, तथा सदैव होने से अभी हैं एवं सर्वत्र होने से अपने ही में हैं। अपना अपने को स्वतः प्यारा लगता ही है। जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता की गन्ध भी नहीं रहती। सर्वांश में नीरसता का नाश होते ही काम, अर्थात् दृश्य का आकर्षण शेष नहीं रहता और फिर शरणागत साधक का, प्रेम तथा प्रेमास्पद के नित्य विहार में प्रवेश हो जाता है। प्रीति और प्रीतम का परस्पर प्रेम का आदान-प्रदान स्वभाव से होता ही रहता है। वे प्रेम-निधि, मिली हुई प्रीति को उत्तरोत्तर बढ़ाते ही रहते हैं। प्रीतम को प्रीति अत्यन्त प्रिय है, और प्रीति ने तो प्रीतम से भिन्न के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया। प्रीति सर्वत्र प्रीतम को ही देखती है और प्रीति की दृष्टि में भी कोई और है ही नहीं। इस दृष्टि से सब और सर्वकाल में अपने प्यारे ही हैं, इस वास्तविकता में अविचल आस्था हो जाने पर जीवन साधन और साधन जीवन हो जाता है।

सर्व-समर्थ करुणासागर अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी प्रियता प्रदान करें—इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

....

२५९

वृन्दावन
दिनांक २६-७-१९७४

सेवा-परायण, प्रीति-स्वरूपा, प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा जीवन के सत्य को स्वीकार कर प्रीति और प्रीतम के नित्य विहार में नित्य वास करो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम अभिवादन।

आज मानव-समाज संघर्ष, अशान्ति, पराधीनता तथा अनेक अभावों से पीड़ित क्यों है, इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब तक मानव बल का दुरुपयोग तथा ज्ञान का अनादर एवं प्रभु-विश्वास में विकल्प करता रहेगा, तब तक उसकी वही दशा रहेगी, जिसे आज हम लोग देख रहे हैं। प्राणी और मानव में एक भेद है—वह यह कि मानव को मानव के रचयिता ने बल, विवेक तथा विश्वास का तत्व दिया है; अन्य प्राणियों में विवेक और विश्वास का तत्व नहीं है। इस कारण अन्य प्राणी सुख की दासता एवं दुःख के भय से पीड़ित ही रहते हैं। यदि मानव ज्ञान का आदर करे जो उसे नित्य प्राप्त है, तो बड़ी ही सुगमता-पूर्वक धर्मात्मा होकर जगत् के लिए और जीवनमुक्त होकर अपने लिए और भक्त होकर प्रभु के लिए उपयोगी हो सकता है। वही मानव अपने ही प्रमाद से बल का दुरुपयोग, विवेक का अनादर और विश्वास में विकल्प करने से सर्वश्रेष्ठ होने पर भी आज पशु, पक्षी तथा हिंसक जन्तुओं से भी निम्न कोटि में चला गया है।

ऐसी भयंकर परिस्थिति में सजग मानव को अपने जीवन के द्वारा मानवता को विभु बनाना है, जो एकमात्र मिले हुए ज्ञान के प्रकाश का आदर करने से ही सम्भव है। बल के दुरुपयोग न करने का व्रत अनिवार्य है। तभी मानव कर्तव्य-परायण, अर्थात् धर्मात्मा हो सकेगा। धर्मात्मा होने पर चित्त शुद्ध हो जाता है और ज्ञानपूर्वक अकिंचन तथा अचाह होने से चित्त शान्त हो जाता है, जिसके होते ही मानव आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक गुरुवाणी, वेदवाणी तथा भक्तवाणी से सुने हुए प्रभु से आत्मीयता स्वीकार कर सोई हुई स्मृति तथा प्रियता को जगाकर प्रेम तत्व से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए अभाव, पराधीनता एवं नीरसता से रहित हो जाता है। अर्थात् मानव धर्मात्मा होकर जगत् के लिए एवं प्रेमी होकर प्रभु के लिए उपयोगी होता है, यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करना ही मानव का स्वधर्म एवं परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता उसे अपने रचयिता से मिली है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे तुम उदार, स्वाधीन एवं प्रेम से परिपूर्ण होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाओ। इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

....

२६०

वृन्दावन
दिनांक ३०-७-१९७४

अहैतुकी कृपा से पालित, प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

प्रेमास्पद को सभी प्रेमी प्रिय हैं, इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। अब रही अपने ओर की बात। वे यह जानते हैं कि तुम उनकी हो। भक्तवाणी के आधार पर तुम उन्हें अपना मान लो। बस, इतना ही तुम्हारा प्रयास है। यह सर्वमान्य सत्य है कि अपना अपने को स्वभाव से प्रिय होता ही है। प्रिय की मधुर स्मृति उत्तरोत्तर बढ़ती है। उनसे भिन्न तुम्हारा और कोई किसी भी काल में नहीं है। तुम्हें जो कभी भी अपना करके प्रतीत होता था वह भी उन्हीं का है, उन्हीं का दिया हुआ है। तुम अकिंचन तथा अचाह होकर उनकी पावन प्रीति से अभिन्न हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करना है। आवश्यक सामर्थ्य स्वतः मिलती है। यह मंगलमय विधान है। सामर्थ्य का सद्व्यय होते ही कर्तव्य प्रियता में स्वतः बदल जाता है, बस यही सेवा का तत्व है। उदारता, स्वाधीनता तथा प्रियता तुम्हारा निज स्वरूप है। तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। अतः शरीर कैसा है, इस ओर ध्यान जाना ही भारी भूल है। सेवापरायण होते ही शरीर की सुरक्षा का प्रश्न समर्थ सेव्य पर हो जाता है, सेवक पर नहीं रहता। सद्भाव की सेवा तो क्रियात्मक सेवा से अधिक महत्वपूर्ण तथा विभु है। इस सत्य

को स्वीकार कर सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय रहो। प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसके लिए कोई क्रियात्मक प्रयोग नहीं है। प्रेमास्पद की महिमा को अपनाना ही अचूक उपाय है। प्रिय के नाते होने वाली प्रवृत्ति पूजा है। पूजा होती रहती है और प्रियता बढ़ती रहती है। यह प्रेमास्पाद की अहैतुकी कृपा है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता एवं हृदय में निर्भयता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

....

२६१

वृन्दावन

दिनांक १३-८-१९७४

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा, प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

परपीड़ा से पीड़ित होकर प्राणि-मात्र की मूक सेवा करती रहो तथा प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करो, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

मिली हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है, यह प्राकृतिक विधान है। सोई हुई मानवता जगाने के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। आज मानव-समाज अपने सत्य को स्वीकार करने में आनाकानी करने लगा है। उसी का यह परिणाम है कि जो जीवन सभी के लिए उपयोगी था, आज अनुपयोगी हो गया है। ऐसी भयंकर परि-

स्थिति में सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानवमात्र को उदारता, स्वाधीनता और प्रेम प्रदान करें, यही मेरी सद्-भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। प्रत्येक कर्तव्य कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करती हुई उनकी मधुर स्मृति से अभिन्न हो जाओ और फिर अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर कृतकृत्य हो जाओ। वास्तविक जीवन प्रीति और प्रीतम के नित्य विहार में ही है, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२६२

वृन्दावन

दिनांक १६-८-१९७४

परम भागवत, स्नेहमयी, साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

अलौकिक, अविनाशी, रसरूप, चिन्मय जीवन की माँग प्रत्येक साधक की अपनी माँग है। लौकिक सामर्थ्य के द्वारा अलौकिक जीवन की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु अलौकिक जीवन की प्राप्ति के लिए लौकिक शक्तियों के द्वारा लोक सेवा अत्यन्त

आवश्यक है। सेवा का अन्त त्याग तथा प्रेम में स्वतः हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होकर यथाशक्ति सेवा करना अनिवार्य है। सद्भाव असीम और सहयोग यथासम्भव हो सकता है। सहयोग के अन्त में साधक सद्भाव में विलीन होकर स्वतः लोक-सेवा से अभिन्न हो जाता है और फिर सेवा, त्याग, प्रेम जीवन हो जाता है—सेवा अर्थात् उदारता और त्याग अर्थात् स्वाधीनता एवं अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम साधक के विकास की चरम सीमा है। यही साध्य की महिमा है। महामहिम की महिमा से अभिन्न होकर साधक साध्य से अभिन्न होता है। अतः लौकिक सामग्री के द्वारा अलौकिक जीवन के लिए लोक-सेवा अत्यन्त आवश्यक है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अलौकिक जीवन की आवश्यकता को ही अपनी वास्तविक माँग स्वीकार किया है।

अलौकिक जीवन की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। ज्यों-ज्यों माँग सबल होती जायगी, त्यों-त्यों काम का स्वतः नाश होता जायगा। सर्वांश में काम का नाश होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अविषय होकर अलौकिक जीवन की प्रियता में विलीन हो जाती हैं। यह जीवन का सत्य है। और इसी अलौकिक जीवन को प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार कह सकते हैं। इस जीवन में प्रवेश पाना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें—इसी सद्भावना के साथ,

●

अकिंचन

... ...

२६३

वृन्दावन

दिनांक २७-८-१९७४

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रीति-स्वरूपा, प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

यद्यपि तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, यह अनुभूति सत्य है, परन्तु सेवा-सामग्री का उपयोग होता रहे, तो हर्ष होता है। पर क्या किया जाय, इसमें अपना कोई वश तो है नहीं। जैसा उन्हें अच्छा लगे वैसा करें, पर हृदय की व्यथा तो यही है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रेम से भर जाय और अभिमान की गन्ध भी न रहे। अभिमान प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच एक आवरण है। उसकी निवृत्ति होने पर ही प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य विहार सतत् होता रहता है। मेरे जानते यही मानव-जीवन के विकास की चरम सीमा है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर करुणामय ने अपने ही में से अपने मानव का निर्माण किया है। मानव उन्हें अत्यन्त प्रिय है। किन्तु मानव में भी उनकी अगाध प्रियता उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। यहाँ तक कि मिलन में विरह, विरह में मिलन सतत् होता रहे--यह माँग प्रेमीजनों की अपनी माँग है। इस अलौकिक रस के लिए ही विवेकीजन शान्ति तथा स्वाधीनता में रमण नहीं करते। जब सब कुछ उन्हीं का है और सभी में सदैव वे स्वयं हैं, तो अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता से भिन्न साधक का अस्तित्व ही कुछ नहीं है। सजग साधक को शरीर के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से

मुक्त होना अनिवार्य है, जो एकमात्र अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न से ही साध्य है। सब कुछ उन्हीं का है, इस सत्य को स्वीकार करते ही साधक अकिंचन होकर अभय हो जाता है। किन्तु सत्ता रूप से वे ही हैं, इस वास्तविकता को अपनाते ही प्रियता का उदय होता है। प्रियता जिसमें उदय होती है उसको अपने से अभिन्न कर, जिसके प्रति होती है उसे नित-नव रस प्रदान करती है। यही शरणागत साधकों की उत्कट लालसा रहती है। जीवन प्रिय के लिए रस-रूप हो जाय, इस माँग में समस्त कामनाएँ विलीन हो जानी चाहिएं, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से सम्भव है। केवल प्रभु ही अपने हैं, यह सभी प्रभु-विश्वासियों का अनुभव है। इस अनुभव में अविचल आस्था कर सभी शरणागतों को सोई हुई आत्मीयता को जगाना चाहिए। उनसे भिन्न अपना करके कुछ नहीं है, इस सत्य को विवेकपूर्वक अनुभव करो और आप्तकाम होकर अपने में अगाध प्रियता का उदय होने दो। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसी को प्रेमास्पद अपना प्रेमतत्व प्रदान करते है। जिसे कुछ और चाहिए उसे प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इस सत्य को अपनाकर अचाह एवं अप्रयत्न होकर प्रेमतत्व से अभिन्न हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ, ...

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

....

२६४

वृन्दावन

दिनांक १२-६-१६७४

परम भागवत, प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो, और उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव रखो। इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

यह सभी शरणागत साधकों का मत है कि जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब प्यारे प्रभु का है और सभी में वे स्वयं हैं। उनका प्रेम ही एकमात्र अपना जीवन है और प्रेम तथा प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता से ही साध्य है। जिस प्रकार शरीर और संसार की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार साधक का साध्य से नित्य सम्बन्ध तथा जातीय एकता और आत्मीयता है। प्रेमास्पद की अनुपम लीला में जो अभिनय मिला है, उसे पवित्र भाव से विधिवत् करना है। साधक के जीवन में पल भर के लिए भी साध्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए, अपितु सतत् स्मृति होती रहे, प्रियता बढ़ती रहे। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक अपनी बनायी हुई भूल का अन्त कर देगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत सत्संग अनिवार्य है। सत्संग-योजना ही एकमात्र व्यक्तिगत तथा सामूहिक समस्याओं का हल है। कारण कि भूल-रहित होने से

ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है। सृष्टि किसी व्यक्ति की बनाई हुई नहीं है। सृष्टिकर्ता ने अपने ही में से सृष्टि का निर्माण किया है। अथवा यों कहो कि अपनी विभूतियों से सृष्टि बनायी है और अपने में से ही साधक का निर्माण किया है। जब साधक इस वास्तविक आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार कर लेता है, तब उसे यह चेतना मिलती है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रेम से भर जाय और अहं अभिमान-शून्य हो जाय। इस वास्तविक माँग का अनुभव करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है। मांग ही माँग की पूर्ति में समर्थ है, यह अनन्त का अनुपम विधान है। कारण कि वास्तविक माँग की जागृति होने पर काम अर्थात् दृश्य का आकर्षण शेष नहीं रहता और फिर स्वतः माँग पूरी हो जाती है, यह जीवन का सत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

....

२६५

वृन्दावन

दिनाँक ४-१०-१९७४

भगवत् कृपाश्रिता, भक्तिमती,

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो। उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव रखो, तो फिर उन्हीं में नित्य वास रहेगा। यह जीवन का सत्य है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी

कृपा से तुम्हें अकिंचन और अचाह होने की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे तुम आत्मीयता से जागृत प्रियता को पाकर कृतकृत्य हो जाओ—यही मेरी सद्भावना है।

मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होना विश्व-सेवा, प्रभु के नाते पवित्र भाव से सभी के प्रति सद्भाव और यथा शक्ति सत्कार्य करना समाज-सेवा, अकिंचन होकर अचाह होना अपनी सेवा और आत्मीयता से जागृत सोई हुई प्रीति जगाना प्रभु-सेवा है। प्रभु-सेवा में सभी सेवाएं स्वतः विलीन हो जाती हैं। यह जीवन का सत्य है। प्रभु-प्रेमियों के द्वारा स्वतः सभी का सर्वतोमुखी विकास होता है। विश्व-सेवा से साधक अपनी सेवा का अधिकारी हो जाता है और अपनी सेवा होने पर प्रभु-सेवा की सामर्थ्य आती है। सेवा, त्याग तथा प्रेम की जननी है। सेवा के लिए बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करना अनिवार्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें सेवा द्वारा त्याग तथा प्रेम प्रदान करें, यह मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द।

अकिंचन

... . - ....

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी
कृपा से मानव-मात्र को विवेक का आदर तथा
बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें,
एवं हे करुणासागर ! अपनी अपार
करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का
नाश करें। सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

मानव सेवा सङ्घ के अन्य प्रकाशन

	पृष्ठ संख्या	मूल्य
१. सन्त समागम भाग १ (छठा संस्करण)	२६०	२-००
२. सन्त समागम भाग २ (चतुर्थ संस्करण)	३४४	४-००
३. मानव की माँग (तृतीय संस्करण)	२२०	३-००
४. जीवन दर्शन (द्वितीय संस्करण)	३२६	२-५०
५. चित्त शुद्धि (तृतीय संस्करण)	४६०	५-००
६. साधन तत्त्व (द्वितीय संस्करण)	१०५	१-२५
७ सत्संग और साधन (द्वितीय संस्करण)	९९	१-००
८ जीवन पथ (द्वितीय संस्करण)	१३८	१-२५
९. मानवता के मूल सिद्धान्त (तृतीय संस्करण)	९६	१-००
१०. दर्शन और नीति (द्वितीय संस्करण)	१५०	२-००
११. दुःख का प्रभाव (द्वितीय संस्करण)	११६	१-२५
१२. मानव सेवा संघ परिचय (पंचमवार)	४८	०-३५
१३. मूक सत्सङ्ग और नित्ययोग (द्वितीय संस्करण)	२१८	२-७५
१४. मानव दर्शन (द्वितीय संस्करण)	१९३	१-७५
१५ मंगलमय विधान (द्वितीय संस्करण)	७०	१-२५
१६. संत-पत्रावली भाग १	१८०	२-५०
१७. हम और हमारा देश	१६४	१-२५
१८. A Saint's Call to Mankind (Second Impression)	174	3-50
१९. Sadhna—Spotlights by a Saint.	70	1-25
२०. साधन सूत्र (छोटा)	प्रति सैट	१-५०
२१ साधन सूत्र (बड़ा)	प्रति सैट	२'५०
२२. आचार-सहिता	६४	०-६०
२३. रजत जयंती स्मारिका	२८२	६-००

मिलने का पता—

मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०